गांधी-मार्ग

मार्च-अप्रैल 2026



युद्ध...युद्ध...युद्ध... और गांधी

• महात्मा गांधी • जैनेंद्र कुमार • अज्ञेय • बिल क्लिंटन • सुंदरलाल बहुगुणा

गांधी इतिहास नहीं वर्तमान और भविष्य भी हैं...



वर्तमान को समझिए... भविष्य को बनाइए!

*

गांधी शांति प्रतिष्ठान से जुड़िए.

हमारे केंद्र :

○भागलपुर ○जोधपुर ○पटना ○भुवनेश्वर ○जमशेदपुर ○जम्मू ○मुजफ्फरपुर ○इंदौर ○कौसानी ○कानपुर ○भद्रक ○राउरकेला ○बैंगलूरू ○धारवाड़ ○कोचिन ○कालिकट ○त्रिवेंद्रम ○त्रिशूर ○अहमदाबाद.

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 68, अंक 2, मार्च-अप्रैल 2026



गांधी शांति प्रतिष्ठान

✳

आवरण : रेत में दमकती इस 5 साल की फलस्तीनी बच्ची का नाम था हिंद रामी इयान रजाब. हिंद अरबी शब्द है जिसका एक मतलब ताकत का पुंज भी होता है. हिंद का परिवार जब गजा से निकल भागने की कोशिश कर रहा था तभी इस्राइली बमबारी में वे सभी मारे गए. बचे बस हिंद और उसका भाई! आसमान से आग बरसाती मिसाइलों व फूटते बमों से घिरे दोनों बच्चों ने देखा कि सामने निशाना साधता एक टैंक खड़ा है. फोन से उन्होंने बचाव दल को बताया भी लेकिन बचाव विनाश की गति से धीमा साबित हुआ. फोन पर उसकी आखिरी आवाज जो उसकी मां ने सुनी वह इतनी ही थी : ''मां, मैं बेहद डरी हुई हूं... तुम जल्दी आओ!''... तभी टैंक की तोप ने उसे खामोश कर दिया... बाद में एक रोज मां ने हिंद का हजार मीटर लंबा बैनर गजा की रेत पर फैला दिया जिसके किनारे-किनारे आ खड़े हुए सैकड़ों लोग... जैसे हिंद एक बार फिर जीवित हो उठी!... युद्ध का ऐसा प्रतिकार ही जीवन को मौत से बड़ा बनाता है... अंक-सज्जा की है **मुकेश गेरा** ने.

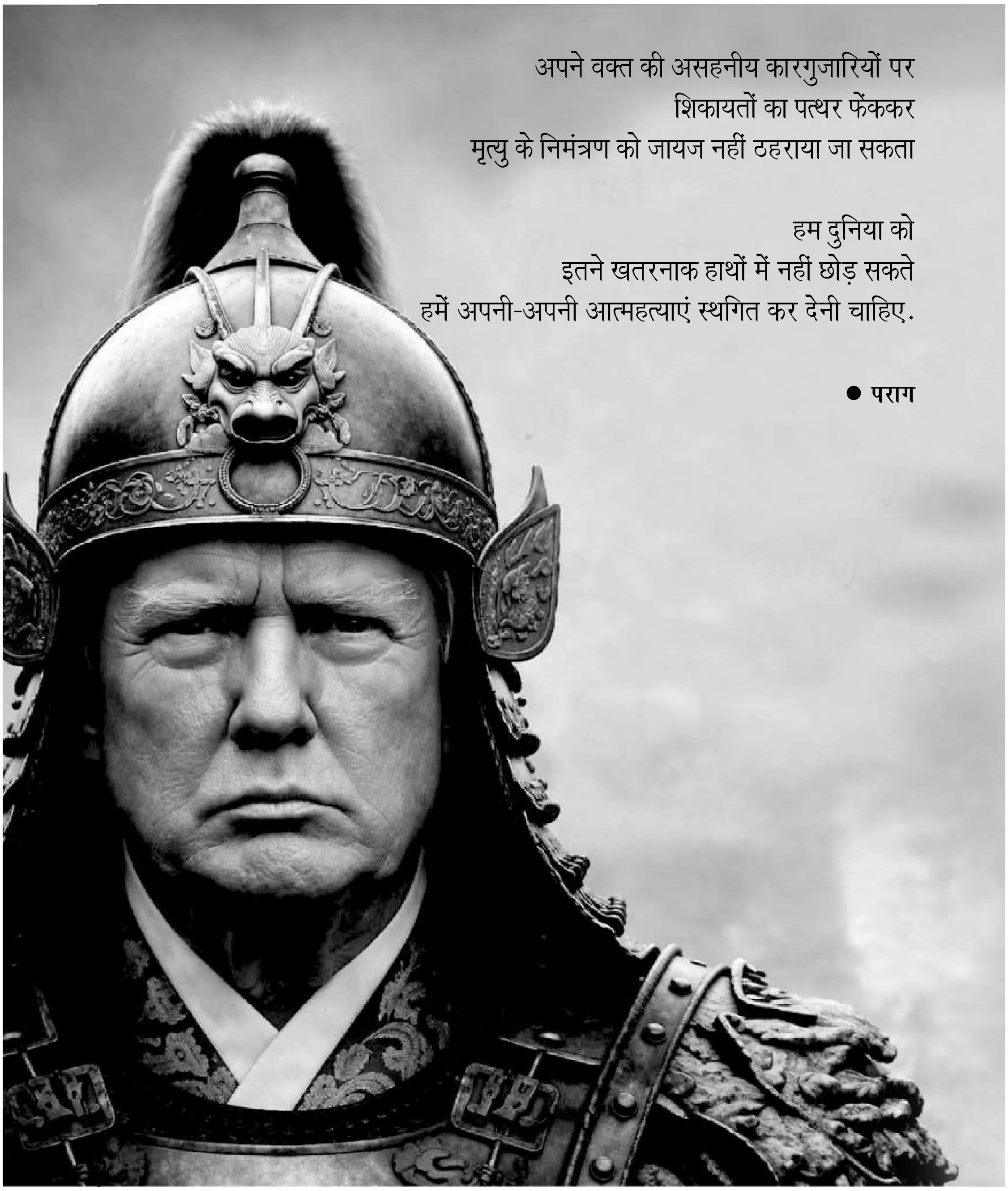
वार्षिक शुल्क : भारत में 200 रुपये, दो वर्ष के 350 रुपये, आजीवन-1000 रुपये (व्यक्तिगत), 2000 रुपये (संस्थागत), एक प्रति का मूल्य 20 रुपये, डाक खर्च निःशुल्क. दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें. अपना शुल्क चेक, बैंक ड्राफ्ट, मनीऑर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें. ऑनलाइन भुगतान के लिए केनरा बैंक खाता नं. 0158101030392 IFSC CODE : CNRB 0000158.

संपादन : कुमार प्रशांत **प्रसार :** भगवान सिंह

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002 के लिए अशोक कुमार द्वारा प्रकाशित
फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, **Email:** gmhindi@gmail.com

मुद्रक : नीता प्रेस, 3574- गली जटवारा, नियर सबलोक क्लीनिक, दरियागंज, दिल्ली-110002, फोन नं. 8800646548

शुरू में . . .



अपने वक्त की असहनीय कारगुजारियों पर
शिकायतों का पत्थर फेंककर
मृत्यु के निमंत्रण को जायज नहीं ठहराया जा सकता

हम दुनिया को
इतने खतरनाक हाथों में नहीं छोड़ सकते
हमें अपनी-अपनी आत्महत्याएं स्थगित कर देनी चाहिए.

● **पराग**

युद्ध परिदृश्य

युद्ध...युद्ध...युद्ध... और गांधी

एक ही रात में - 7 अप्रैल 2026 - हजारों साल पुरानी व समृद्ध ईरानी सभ्यता के अस्तित्व को धरती से मिटा देने की मनोरोगी अमरीकी राष्ट्रपति डोनल्ड ट्रंप की घोषणा के बाद क्या हुआ? अखबारी दुनिया के लोग कहेंगे कि उसके बाद 15 दिनों का युद्धविराम हुआ... एक ऐसा युद्ध विराम जो कभी विराम नहीं पा सका... अब जिसे दोनों पक्षों ने मृत-सा घोषित कर दिया है. युद्धविराम रणनीति नहीं, आस्था का विषय है... अमरीका—इस्राइल की आस्था युद्ध में है, विराम में नहीं.

लेकिन 7 अप्रैल 2026 की रात में वह भी हुआ जो संभवतः मानवीय सभ्यता के इतिहास में पहले नहीं हुआ था. ट्रंप की कयामत की रात की घोषणा के बाद न ईरान के सत्ताधारियों ने, न ईरान की बलिदानी जनता ने किसी के आगे गुहार लगाई, न हाथ फैलाया, न माफी मांगी. स्त्री-पुरुष-बच्चियां-बच्चे कोई कहीं रोता-कलपता भी नहीं दिखा. पिछले 40 दिनों से वे, खंडहर होते जा रहे अपने देश को सीने से लगाए, आसमान से बरसते विनाश का सामना कर ही रहे थे. वे आक्रमणकारी ट्रंप, गैरतहीन, धूर्त नेतन्याहू और इनके सफरमैना खाड़ी देशों को लगातार हथियारों से जवाब भी दे रहे थे, हालांकि वे जानते थे कि वे अब ज्यादा दिनों तक जवाब देने की हालत में नहीं हैं...

लेकिन 40 दिनों बाद आज, 7 अप्रैल को लड़ाई बदल गई थी. वे युद्ध की नई कुंडली लिखने सड़कों पर निकल आए थे. ईरान के जिन आण्विक संयंत्रों को, नागरिक सुविधा के तंत्र को, पूजा-स्थलों और सांस्कृतिक केंद्रों को बमों से ध्वस्त कर देने की घोषणा ट्रंप ने की थी, हमने देखा कि अपने-अपने ध्वस्त घरों से

निकल-निकल कर ईरानी नागरिक इस सभी स्थलों को घेर कर खड़े होते गए... कोई शोर नहीं, कोई नारेबाजी नहीं; सब एकदम शांत थे. लेकिन हर जगह लोग-ही-लोग थे... सब कह रहे थे हम यहां खुले में खड़े हैं, चलाएं ट्रंप उनके पास जो भी है! ईरान के मशहूर संगीतकार अली घामसारी ने एक संयंत्र के सामने वाली सड़क पर दरी बिछाई और अपना वाद्य बजाने लगे. ईरान के राष्ट्रपति मसूद पेजेशकियन ने शांत पर दृढ़ आवाज में बतायाः मरने की तैयारी रखनेवालों की सूची में अब तक 1.40 करोड़ ईरानी नागरिकों ने अपना नाम दर्ज करवाया है और उसमें पहला नाम मेरा है.

यह ईरान के लिए कयामत की रात थी जिसे उसने कमाल की रात में बदल दिया था.



किसी ने देखा या नहीं देखा पता नहीं लेकिन इन बलिदानी ईरानियों की किसी कतार में महात्मा गांधी भी खड़े थे! दुनिया के जिस भी कोने में लोग वीरता से बलिदान देने निकलते हैं, यह 'अधनंगा फकीर' वहां अपनी हाजिरी लगाता ही है. जयप्रकाश ने कभी हंगरी में, कभी तिब्बत में, कभी बांग्लादेश में तो कभी चेकोस्लोवाकिया में इस गांधी को पहचाना था.

गांधी ने कहा था : विवश कायरता से कहीं भला होता है निडर बलिदान! गांधी की अहिंसा का उपहास करने वाले किताबी बुद्धिजीवी व हिंदुत्व की

अहंकारी भाषा में अपनी कायरता छिपाते रहने वाले कहां पहचान सकेंगे कि गांधी ने जिस चरम साहस की बात कही थी, ईरानी जनता में वह साहस 7 अप्रैल 2026 को मूर्तिमान हुआ था.

यही अमरीका था और उसके ही परमाणु बम थे कि जिनसे हिरोशिमा-नागासाकी का अकल्पनीय विनाश हो चुका था. तब किसी ने पूछा था गांधी से : आप परमाणु बम का अहिंसा से कैसे मुकाबला करेंगे? पूछने वाले ने सोचा था कि गांधी निरुत्तर रह जाएंगे लेकिन गांधी ने जवाब टाला नहीं, वे हिचके भी नहीं. कहा : विनाश का मुकाबला अकंप वीरता से ही किया जा सकता है. उन्होंने बात साफ की : जब बम ले कर आसमान में विमान आएगा तब मैं किसी खाई-खंदक में छुपूंगा नहीं, बल्कि खुले मैदान में निकल आऊंगा और अपलक उस विमान को देखता रहूंगा जो संपूर्ण विनाश ले कर आया है. मैं जानता हूं कि उस विमान का पायलट उस ऊंचाई से मुझे देख नहीं सकेगा लेकिन मैं तो उसे अपलक देख सकूंगा. बम उन सबको मार जाएगा जो बचने की कोशिश करेंगे; लेकिन वह उनको मार नहीं सकेगा जो मरने का भय छोड़ कर, उसकी आंखों-में-आंखें डाल सकेंगे!.... फिल्मी डायलॉग है : जो डर गया वो मर गया; गांधी कहते हैं : करो या मरो!

कायर सवाल पूछते ही रहते थे : ऐसा हो सकता है क्या? मौत की तरफ कैसे देखता रह सकता है कोई? गांधी कैसी अविश्वसनीय-अव्यवहारिक बात कह रहे हैं? 7 अप्रैल 2026 के बाद कोई ऐसा नहीं कह सकेगा. ईरान की बहादुर जनता ने विनाश के समक्ष आत्मबल का सर्जन करने की गांधी की कल्पना के समर्थन में अपना वोट दे दिया है. जो कल तक अहिंसक कल्पना थी, आज हकीकत बन गई है.

युद्ध, हिंसा, विनाश और शत्रुता के खिलाफ जो सदा ही अपनी आवाज बुलंद करता रहा, मानव-मन में गहरी पैठी उसकी जड़ें अहर्निश काटता रहा; जो इन सबके विरुद्ध आज तक मनुष्य द्वारा उठाई सबसे अटूट, सशक्त व सक्रिय आवाज है, उस गांधी को युद्ध में सीधा उतरना भी पड़ा था; दो-दो विश्वयुद्ध की विभीषिका उसने देखी व झेली थी; दुनिया से जाते-जाते उसने अपने मुल्क की नवजात आजादी पर पड़ोसी का फौजी हमला देखा था और उससे युद्ध करने वाली फौज को आशीर्वाद भी दिया था; अपनी हत्या के पांच प्रयासों के बावजूद बगैर किसी कड़वाहट के उसने अपना अभियान जारी रखा था; जैसा सांप्रदायिक उन्माद संसार ने पहले देखा नहीं था वैसे सांप्रदायिक उन्माद में पांव-पांव लगातार भटकता रहा था वह; सांप्रदायिक हिंसा के कई थपेड़े उसने झेले थे और फिर उसी सांप्रदायिक आग में जल कर वह भस्म हुआ था. तो हम कह सकते हैं कि गांधी

ने युद्ध के खिलाफ तमाम उम्र युद्ध ही लड़ा!

दूसरे विश्वयुद्ध के चरमकाल में, 10 फरवरी 1946 के **हरिजन** में उसने लिखाः "लोग पूछते हैं कि पिछले दिनों में संसार में हुए प्रलयंकारी परिवर्तनों के बीच भी क्या मैं सत्य और अहिंसा के प्रति अपनी आस्था पर दृढ़ हूं? क्या अणु बम ने ऐसी आस्था को ध्वस्त नहीं कर दिया है? नहीं, अणुबम ने ऐसा कुछ नहीं किया है, बल्कि उसने मुझे स्पष्ट रूप से दिखा दिया है कि विश्व में सत्य और अहिंसा ही सर्वोपरि शक्तियां हैं. इनके सामने अणु बम बेअसर है. एक नैतिक व आध्यात्मिक बल है; और दूसरा स्थूल व भौतिक. आत्मा का बल सदा प्रबल व अनंत होता है. उसकी संपूर्ण अभिव्यक्ति हो तो संसार की कोई शक्ति उसे पराजित नहीं कर सकती. प्रत्येक व्यक्ति इस बात की चिंता किए बिना कि उसका



पड़ोसी क्या कर रहा है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी आत्मा के प्रति सच्चा रहने का प्रयास करे."

लोभी, अहंकारी सत्ताधीशों के कारण दुनिया आज एक उन्मत्त युद्ध के सामने खड़ी है. उसकी शाखाएं-प्रशाखाएं फैलती जा रही हैं. किसी दानव की तरह दहाड़ते अमरीका के राष्ट्रपति डोनल्ड ट्रंप ने, युद्धविराम की आड़ में 15 दिनों की मोहलत ली; पशुवत् हिंसा के प्रेमी इस्राइल के प्रधानमंत्री नेतन्याहू किसी चालाक लोमड़ी की तरह अफसोस से हाथ मलते रहे. दोनों मिल कर फलस्तीन व ईरान

को जमींदोज करने में लगे हैं. विनाशक हथियारों-जहाजों-ड्रोनों-मिसाइलों को पटाखों की तरह फोड़ रहे हैं और गजा के लोग, ईरान के लोग, यूक्रेन के लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह मारे जा रहे हैं. जो मर रहे हैं वे भी पलट कर मारने की होड़ में पड़े हैं. रूस व चीन दोनों हिसाब यह लगा रहे हैं कि इस विनाश में से अपने लिए क्या समेटा-बटोरा जा सकता है. इस तरह एक बेरहम, अत्याचारी, अविवेकी, अमानवीय व्यवस्था के हाथों सभी मारे जा रहे हैं. महाभारत भी तो ऐसा ही रहा होगा न!

किसी हिंसा का जवाब उससे बड़ी हिंसा से ही दिया जा सकता है, ऐसे दर्शन पर खड़ी सभ्यताएं अपनी सारी कुरूपता के साथ एक-दूसरे पर टूट पड़ रही हैं. इन सबके बीच हमारा देश भी है जो कभी अपनी कमजोर आवाज में ही सही, नैतिकता, मानवता व सत्य की आवाज उठाता था. आज वही भारत स्वार्थ व कायरता की प्रतिमूर्ति बना, छिपता-छिपाता जी रहा है. विश्वपटल पर हम ऐसे सत्वहीन कभी नहीं थे जैसे आज हैं. गर्दन पाकिस्तान की ऊंची है. अपने अस्तित्व के इतिहास में संभवतः यह पहला ही अवसर है जब पाकिस्तान किसी अंतरराष्ट्रीय शांति-प्रयास के केंद्र में है. हमें उसे शुभकामना देनी चाहिए कि तुम्हारी अक्ल पर पड़ा यह जो पर्दा उठा है, वह मात्र 15 दिनों का नाटक न हो, और तुम शांति के स्थायी पक्षधर बनो! पर्दे के पीछे से छन कर आती खबरों में एक यह भी है कि ईरान ने युद्धविराम के लिए हामी तभी भरी जब चीन ने उसे अपना भरोसा दिलाया. हम चीन को भी शुभकामना देते हैं कि यह शांति भले उसकी रणनीति का हिस्सा हो, वह शांति का स्थायी पैरोकार बने.

आज भारत जैसी श्रीहीन हालत में है, कुछ ऐसी ही स्थिति को ध्यान में रख कर, 9 मई 1929 को **यंग इंडिया** में गांधी ने लिखा : ''जब दो राष्ट्रों में लड़ाई हो रही हो तो अहिंसा के पुजारी का कर्तव्य है कि वह युद्ध को रुकवाए. युद्ध एक विशुद्ध बुराई है. कोई कुछ भी कहे, मैं युद्ध के प्रति अपना घृणा-भाव नहीं छोड़ सकता. लेकिन निजी विश्वास एक बात है, सही आचरण दूसरी बात. एक जैसा दृष्टिकोण होने पर भी युद्ध का प्रतिरोध करने वाला एक व्यक्ति इस ध्येय के हित में जो काम करेगा, हो सकता है कि कोई दूसरा युद्धविरोधी उसे बिल्कुल पसंद न करे और उससे बिल्कुल उल्टा काम करे. यह विरोध मानव-प्रकृति की विस्मयकारी जटिलता के कारण उत्पन्न होता है. मैं तो बस यही आग्रह कर सकता हूं कि एक ही दिशा के लोगों के बीच परस्पर सहिष्णुता होनी चाहिए.

''जब तक युद्ध के कारणों को नहीं समझा जाएगा और उन्हें जड़ से नष्ट नहीं किया जाएगा, युद्ध को रोकने के सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होंगे. क्या आधुनिक

युद्धों का प्रमुख कारण दुनिया की तथाकथित दुर्बल प्रजातियों के शोषण के लिए मची अमानवीय होड़ नहीं है? **(यंग इंडिया 9-5-1929)**

''यदि युद्ध में एक भी अच्छाई न होती, उसके पीछे साहस और वीरता न होती तो वह एक निंदनीय चीज होती और उसे नष्ट करने के लिए भाषण न देने पड़ते.

''मेरा विश्वास कीजिए, इस दुनिया में करोड़ों ऐसे लोग हैं जो अपने मनोवेगों तथा स्थितियों के गुलाम हैं. दुनिया में करोड़ों लोग अपनी मूढ़ता से आहत हैं और करोड़ों घर इससे बर्बाद हैं.

''आज हमारे चारों ओर जो हो रहा है वह अहिंसा की घोर उपेक्षा और हिंसा की पूजा का परिणाम है. हथियार जमा करने के मामले में एक-दूसरे को मात देने के लिए पागल दौड़ चल रही है. जब टकराव की आखिरी घड़ी आएगी-जो आएगी जरूर – उसमें लोकतंत्र विजयी होता है तो ऐसा केवल अपनी जनता के अटूट समर्थन से ही संभव है.''

कहते हैं कि यह मानवीय इतिहास की सबसे सभ्य सदी है जहां तमाम राष्ट्रप्रमुख मंचों पर मानवता व शांति के गीत गाते सुने जाते हैं; अनगिनत विश्व शांति सम्मेलनों, पर्यावरण सुरक्षा के वैश्विक आयोजनों का शोर उठता रहता है; जहां संयुक्त राष्ट्रसंघ बना हुआ है, युद्धविरोधी दूसरे अंतरराष्ट्रीय संस्थान भी हैं, नीदरलैंड के हेग के पीस पैलेस में बना इंटरनेशनल कोर्ट ऑफ जस्टिस है. शांति का नोबल पुरस्कार पाने वाले कितने ही महानुभाव हैं. पोप भी हैं, दलाई लामा भी, कितने ही दूसरे धर्माचार्य भी हैं. हम गांधीजन भी हैं लेकिन तथाकथित महाशक्तियों को बरजते हुए, कहीं से कोई संगठित प्रतिवाद-प्रतिकार सामने नहीं आया है. जयप्रकाश ने कभी अपने गांवों का विनाश व उनकी बदहाली देख कर कहा था कि यह दुर्योधन का दरबार है जहां पांचाली का चीर हरण हो रहा है व सारे भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि मूक बैठे हैं. हमारी आज की दुनिया भी कुछ ऐसी ही है.

लेकिन नहीं, मानवता कभी इतनी कंगाल नहीं होती है कि अपने वक्त को कुछ दे ही न सके. जब नेता व नेतृत्व के नाम पर कलंक समान लोग सत्ता की कुर्सियों पर बैठे हैं, तब देखिए कि सड़कों पर कौन उतरा है! अमरीका के सभी 50 राज्यों में, कोई 60 लाख लोग एक साथ, एक ही दिन सड़कों पर उतरे और समवेत स्वर में बोले : ''नो किंग्स!'' - नहीं है कोई राजा, नहीं है अमरीका में कोई राजतंत्र कि ट्रंप मनमानी करें! वे हमारे वोट से बने राष्ट्रपति हैं, सो उसी हद में रहें. यह लोक की चेतावनी है तंत्र को! उन अमरीकी नागरिकों को भी अब होश

आना चाहिए जो ट्रंप की खोखली चुनावी नारेबाजियों में बह गए थे. ट्रंप की संकीर्ण सोच ने अमरीका को गहरे आर्थिक व नैतिक संकट में डाल दिया है. लोकतंत्र को जीवन-मूल्य मानने वाले हर नागरिक को हमेशा याद रखना चाहिए कि लोकतंत्र सरकारों से नहीं, नागरिकों की सतत जागरूकता व सामूहिक जिम्मेवारी से चलता व समृद्ध होता है. हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ट्रंप के अहंकारी युद्ध का विरोध करने अमरीकी ही नहीं, दूसरे मुल्कों के लोग भी सड़कों पर उतरे हैं. यह अंतरराष्ट्रीय पहल हमें भरोसा दिलाती है कि लोकतंत्र का आंतरिक रस सूख नहीं गया है.

यह नया महाभारत है जिसमें अपना अस्तित्व ही किसी अपराध की तरह



लगता है. **हरिजन** में 12 नवंबर 1938 तथा 29 सितंबर 1946 को गांधी लिखते हैं : "मैं स्त्रियों-पुरुषों व बच्चों के सर्वनाश के लिए अणुबम के इस्तेमाल को विज्ञान का सबसे क्रूर उपयोग मानता हूं.

"लोग पूछते हैं कि इसका प्रतिकार क्या है? क्या इसने अहिंसा को व्यर्थ ही नहीं बना दिया हैं?" मैं कहता हूं-नहीं, अब मैदान में सिर्फ अहिंसा ही खड़ी है. यही एक चीज है जिसे अणुबम नष्ट नहीं कर सकता. जब मैंने पहली बार सुना कि अणुबम ने हिरोशिमा को पूरी तरह मिटा डाला है, तो मुझमें कोई सिहरन नहीं हुई. मैंने स्वयं से कहा, "अब अगर दुनिया अहिंसा को नहीं अपनाती है तो, मानव-जाति को आत्महत्या करनी पड़ेगी." **(हरिजन 29-9-1946)**

''बड़ी शक्तियों के सामने एक मौका है कि वे अहिंसा को अपनाकर अपना गौरव बढ़ाएं तथा आगामी पीढ़ियों का चिर आभार लें. उसके लिए इन बड़ी शक्तियों को अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं का त्याग करना होगा, पृथ्वी के तथाकथित असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य राष्ट्रों का शोषण बंद करना पड़ेगा तथा अपने रहन-सहन के ढंग में असल बदलाव लाना होगा. इसका अर्थ है–**संपूर्ण क्रांति!** बड़ी शक्तियों से ऐसी आशा करना कठिन है. लेकिन चमत्कार तो पहले भी हुए हैं, इस अत्यंत अंधेरे दौर में भी हो सकते हैं. बुराई को मिटाने की ईश्वर की शक्ति पर अंकुश लगाने का साहस किसमें है?''

महाशक्तियों द्वारा रचे जा रहे क्रूर विनाश के सामने गांधी कभी मौन नहीं रहे. अपने देश की राजनीतिक आजादी का यज्ञ रचाने के साथ-साथ, लिखते-बोलते-करते वे बराबर प्रतिवाद का आकाश बड़ा करते रहते थे. 23 जुलाई 1946 के **हरिजन** में वे लिखते हैं : ''अमरीकी मित्रों का कहना है कि अहिंसा की स्थापना का काम अणुबम से ज्यादा अच्छी तरह कोई और नहीं कर सकता. उनका मतलब यह है कि अणुबम की संहारक शक्ति दुनिया में हिंसा के लिए इतनी अरुचि पैदा कर देगी कि वह हिंसा से दूर हो जाएगी. यह तर्क कुछ ऐसा ही है जैसे कोई आदमी इतने स्वादिष्ट व्यंजन खा ले कि उसका जी मिचलाने लगे और वह ऐसे व्यंजनों से मुंह मोड़ ले. लेकिन क्या मिचलाहट दूर होते ही वह दूने जोश से उन्हीं व्यंजनों पर टूट नहीं पड़ेगा? अणुबम की हिंसा से डरी दुनिया दूने उत्साह से फिर हिंसा की ओर लौट आएगी.

''बुराई में से अच्छाई जन्म लेती है लेकिन यह चमत्कार ईश्वर कर सकता है, मनुष्य नहीं. मनुष्य तो यही जानता है कि अच्छाई का परिणाम अच्छा होता है, बुराई का परिणाम केवल बुरा. मैं समझता हूं कि अणुबम ने उन उत्कृष्टतम भावनाओं को निर्जीव कर दिया है जिससे मानव-जाति युगों से जीवन पाती रही है. युद्ध के भी तथाकथित नियम होते थे जिनके कारण युद्ध सहनीय बन जाता था. लेकिन अणुबम के कारण यह सच्चाई खुलकर सामने आ गई कि ताकत के अलावा युद्ध का न कोई नियम है, न वह दूसरी कोई भाषा समझता है. अणुबम ने मित्र राष्ट्रों को एक खोखली विजय दिला जरूर दी है, पर उस विजय ने जापान की आत्मा का नाश कर दिया है. अब देखना यह है कि कथाकथित मित्र राष्ट्रों की आत्मा का क्या हाल है? प्रकृति की शक्तियां बड़े रहस्यमय ढंग से काम करती हैं. दासों का मालिक दासों के पिंजरे में स्वयं को या अपने लोगों को बंद किए बिना, दासों को बांधकर नहीं रख सकता है. मैं मानता हूं कि जापान का लालच ज्यादा निंदनीय था. लेकिन इसके कारण कम निंदनीय लालच वालों को

यह अधिकार तो नहीं मिल जाता है कि वे जापान के स्त्री-पुरुषों-बच्चों का निर्दयतापूर्वक संहार कर दें!

"अणुबम की भीषण त्रासदी हमें बता रही है कि इसका खात्मा किसी जवाबी बम से नहीं होगा. हिंसा का खात्मा प्रतिहिंसा से नहीं होता है. हम अहिंसा के जरिए ही हिंसा पर विजय पा सकते हैं; घृणा को प्रेम से ही जीता जा सकता है. जवाबी घृणा घृणा का विस्तार मात्र करती है और उसे गहरा बनाती है. मैं जिसे बहुत बार कह चुका हूं उसे मैं फिर दोहराता हूं कि मैं अपनी संपूर्ण योग्यता और क्षमता से अहिंसा का आचरण करने का प्रयास करता हूं. यह कोई किताबी युक्ति नहीं बल्कि मेरी आस्था के रग-रग में बसी सत्य की स्पष्ट घोषणा है. जीवन के



विभिन्न क्षेत्रों में वर्षों से किए गए संयोगों ने इस आस्था को गहराया है, मित्रों के अनुभवों ने इसकी पुष्टि की है. यह वह सत्य है कि जिसका अकेला आदमी भी बेहिचक पालन कर सकता है. मैं मैक्समूलर द्वारा वर्षों पहले कही गई उस बात में विश्वास करता हूं कि सत्य को तब तक दुहराते रहना जरूरी है जब तक उस पर अविश्वास करने वाले लोग मौजूद हैं.

"अणुबम की अभूतपूर्व भीषणता क्या दुनिया पर जबर्दस्ती ही सही, अहिंसा नहीं लाद सकती? यदि दुनिया के सभी राष्ट्रों के पास अणुबम हो जाएं तो वे इसके इस्तेमाल से हिचकेंगे नहीं, क्योंकि तब तो सभी का पूर्णतया नाश हो जाएगा?" मेरी राय में ऐसा नहीं होगा. हिंसक मनुष्य की आंख इस संभावना से चमक उठेगी कि अब वह पहले की अपेक्षा कितना अधिक विध्वंस मचा सकता

है और मौत का कैसा खेल खेल सकता है.''

दूसरे गोलमेज सम्मेलन के बाद, वापसी में उनकी योजना दुनिया के कई देशों में जाने की और कई प्रमुख लोगों से मिलने की थी. लेकिन वह संभव नहीं हुआ. देश की संगीन होती हालत का हवाला देते हुए कांग्रेस अध्यक्ष ने उन्हें सीधा भारत लौटने का निर्देश दिया. ऐसा ही हुआ और हिंसा व युद्ध के नायकों के सामने खड़े हो कर गांधी पश्चिम से क्या कहते, यह जानने का ऐतिहासिक अवसर इतिहास में ही गुम हो गया. हां, वापसी में वे रोम गए. चाहते थे पोप से मिलना लेकिन वह नहीं हो सका. वहां वे मिले तानाशाह सिग्नोर मुसोलिनी से. उस मुलाकात का ब्योरा गांधी की डायरी में कुल जमा इतना ही दर्ज मिलता है : ''12 दिसंबर 1931ः शाम 6 : बेनिटो मुसोलिनी''. बस, दूसरा कुछ नहीं ! उस दौर के इस 'नायक' पर गांधी की इससे मार्मिक व मौजूं टिप्पणी दूसरी हो भी नहीं सकती थी.

गांधी के अध्येता **त्रिदीप सुहृद** ने युद्ध से घिरे विश्व में गांधी की मनोभूमिका पर कुछ इस तरह लिखा हैः

''लंदन में पढ़ाई के दिनों से ही गांधी के मन में यूरोपीय राष्ट्र–राज्यों की प्रकृति के बारे में जितनी गहरी शंकाएं थीं, यूरोप के लोगों के प्रति उतना ही कोमल अनुराग था. इस स्नेह के पीछे उनका यह विश्वास था कि यूरोप की सामान्य जनता भी, उन असंख्य लोगों की भांति आधुनिक सभ्यता की दमघोंटू शक्ति तले दबी हुई है जिसने विश्व भर को पराधीन बना रखा है. यह वही सभ्यता थी जिसे यूरोप की औद्योगिक क्रांति ने गढ़ा था, पोषित किया था व सारी दुनिया में प्रचारित व स्थापित किया था. वे इस सभ्यता को समझते–पहचानते थे और इससे एक युद्ध भी छेड़े हुए थे लेकिन इस सभ्यता के बंदी लोगों के प्रति उनका भाव अलग ही था. इसीलिए गांधी के मित्रों और सहकर्मियों में अनेक यूरोपीय स्त्री–पुरुष सम्मिलित थे, और लंदन के प्रति उनका स्नेह जीवनपर्यंत बना रहा.

यूरोपीय सभ्यता की आत्मा कितनी खोखली है, यह उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ही परख लिया था, और उसे खारिज भी कर दिया था. खारिज इसलिए कर दिया था कि पश्चिम ने लगभग पूर्णतः इस धारणा के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था कि हिंसा का प्रतिकार केवल अधिक प्रबल, अधिक विनाशकारी हिंसा से ही संभव है. गांधी का अटल विश्वास था कि अधिनायकवाद में आस्था रखने वालों को भी अहिंसा की संभावनाओं के प्रति सचेत किया जा सकता है और ऐसा करना

अहिंसा वालों का नैतिक दायित्व भी है. अहिंसा दुर्बलों का नहीं, आत्मबल से संपन्न मनुष्यों का अस्त्र है, इसी भूमिका में वे मुसोलिनी से मिलने को तैयार हुए थे.

यूरोप तब इंच–इंच कर दूसरे विश्वयुद्ध की तरफ खिसक रहा था, आसमान में ऐसा एक युद्ध घुमड़ रहा था जो समूची मानवता को लील सकता था. गांधी यह सब देख रहे थे और गहरी व्याकुलता से घिरे थे. ब्रितानी संसद, ऐतिहासिक वेस्टमिन्सटर एबे जैसे प्रतीक–स्थलों, फ्रांस और जर्मनी के ऐतिहासिक स्मारकों के संभावित विनाश की कल्पना मात्रा से वे उद्वेलित हो उठते थे. जिस यूरोप ने दीर्घकाल से उनके अपने देश को गुलाम बना रखा था, उसका भी ऐसा विनाश उन्हें कबूल नहीं था. भारत की स्वतंत्रता इंग्लैंड और फ्रांस की पराजय अथवा जर्मनी के विनाश और अपमान से प्राप्त हो, इसे वे हजम नहीं कर पा रहे थे. वे दृढ़तापूर्वक मानते थे कि पराधीन भारतीय जनता का कर्तव्य है कि वह शांति की साधना करे. वे असंदिग्ध रूप से मानते थे कि शांति का मार्ग हिंसा से मुक्त होकर ही प्रशस्त हो सकता है – और शांति की वही साधना हिंसा करने वालों को भी मुक्ति दिला सकती है.

ईरान-इस्राइल के फैलते जा रहे युद्ध को अभी-के-अभी समाप्त करने की प्रार्थना मैं करता हूं. हिंसा तो और बुरी हिंसा को जन्म देती है. हिंसा के रास्ते आप शांति पा ही नहीं सकते हैं. मैं पूरी तरह पोप की अपील के साथ हूं कि दुनिया की सभी प्रमुख धर्म-परंपराओं की सीख मैत्री व सुसंवादिता है. मध्य-पूर्व में चल रही लड़ाई से शांति की नींव नहीं डाली जा सकती है. यह तो लड़ाई को ही आगे बढ़ाएगी. हम सभी तो भाई-बहन ही हैं जो एक-दूसरे का सम्मान करते हुए संवाद व सौहार्द से हर समस्या को पार कर सकते हैं. किसी भी आध्यात्मिक परंपरा में हिंसा का स्थान नहीं है.

● **दलाई लामा**

1939 में, जब दूसरे विश्वयुद्ध के बादल घिर रहे थे, उन्होंने एक पत्र नाजी तानाशाह एडोल्फ हिटलर को लिखा. इतिहास बताता है कि युद्ध प्रारंभ हो जाने के बाद, 1940 में उन्होंने दोबारा हिटलर को टटोलने की कोशिश की. यद्यपि औपनिवेशिक सरकार ने उनके दोनों पत्रों को हिटलर तक पहुंचने की अनुमति नहीं

दी लेकिन ये पत्र हिटलर के सामने भी और समस्त मानवता के सामने भी एक मानक की तरह हैं कि शांति की कामना करने वाले एक अहिंसक व्यक्ति की अभिव्यक्ति कैसी हो सकती है. ये पत्र किसी सरलमना व्यक्ति की भावुक प्रतिक्रियाएं मात्र नहीं हैं बल्कि मनुष्यता व पशुता के बीच खींची रेखाएं हैं. गांधी भली–भांति जानते थे कि हिटलर सामरिक बल को एकमात्र देवता मान कर पूजने वाला व्यक्ति है. वे यह भी जानते थे कि उनके पत्र से वह अपने देवता का आश्रय छोड़ नहीं देगा. फिर भी सत्य के साधक और अहिंसक प्रतिरोध में अनन्य आस्था रखने वाले इंसान के नाते उन्होंने अपना कर्तव्य समझा कि वे हिटलर और मुसोलिनी, दोनों की मनुष्यता को जगाने की अपील करें, क्योंकि मनुष्य होने के नाते उनमें भी सत्य और असत्य के बीच भेद करने की क्षमता तो है ही. प्रस्तुत हैं वे दोनों पत्र :

पहला पत्र : 1939

सेवाग्राम, वर्धा
सी.पी., भारत
23 जुलाई 1939

प्रिय मित्र,

मेरे मित्र मुझसे आग्रह करते रहे हैं कि मानवता के नाते मुझे आपको पत्र लिखना चाहिए. मैं ही स्वयं को रोकता रहा कि कहीं आपको मेरा पत्र अनुचित प्रतीत तो नहीं होगा. फिर मेरे अंतःकरण की एक आवाज मुझसे कहती है कि मुझे इस प्रकार का कोई हिसाब-किताब नहीं करना चाहिए और मेरे पत्र की चाहे जो भी कीमत हो, मुझे आपसे अपने मन की बात कह ही देनी चाहिए.

यह तो स्पष्ट है कि मानवता को पुनः बर्बरता की ओर धकेल सकने वाले इस युद्ध को आज कोई रोक सकता है, तो आप ही वह व्यक्ति हैं. आपको कोई उद्देश्य कितना भी उचित क्यों न लगे, क्या उसके लिए आप मानवता को ऐसी बर्बर स्थिति में पहुंचाना पसंद करेंगे? क्या आप एक ऐसे व्यक्ति की पुकार सुनेंगे जिसने जान-बूझ कर युद्ध का रास्ता छोड़ दिया है और उसके हिस्से में थोड़ी सफलता भी आई है?

आपको ऐसा पत्र लिखने में यदि मुझसे कोई प्रमाद हुआ हो, तो मैं आपसे क्षमा की अपेक्षा करता हूं.

मैं हूं,

आपका सच्चा मित्र
(हस्ताक्षर)
हेर हिटलर
बर्लिन, जर्मनी

दूसरा पत्रः 1940

वर्धा
24 दिसंबर 1940

प्रिय मित्र,

मैं किसी औपचारिकतावश आपको 'मित्र' कहकर संबोधित नहीं कर रहा हूं. दरअसल मेरा कोई शत्रु है ही नहीं. जीवन के बीते 33 वर्षों से मेरी निरंतर कोशिश रही है कि सारी मानवता के साथ मैत्री साध सकूं और इसमें जाति, वर्ण, धर्म आदि का कोई भेद न हो.

मैं आशा करता हूं कि ऐसे विश्वास के साथ जीने वाले मनुष्यों का जो एक बड़ा समुदाय दुनिया में है, वह आपके आज के कामों को किस नजर से देखता है, इसे जानने में आपको दिलचस्पी भी होगी और उसके लिए आपके पास वक्त भी होगा.

आपकी वीरता और अपने देश के प्रति आपकी निष्ठा पर हमें कोई संदेह नहीं है; न हम आपको आपके विरोधियों की तरह राक्षससमान मानते हैं. लेकिन मुझे यह लिखना ही चाहिए कि मेरे जैसे अखिल मानवता की मैत्री में विश्वास रखने वाले व्यक्ति को आपके लेखों, भाषणों, आपके दोस्तों-समर्थकों के वक्तव्यों से निःसंदिग्ध लगता है कि आपके अनेक कार्य राक्षसी व मानवीय गरिमा के प्रतिकूल हैं. मैं कहूंगा कि चेकोस्लोवाकिया को जिस तरह अपमानित किया गया है, पोलैंड के साथ जैसा बलात्कार हुआ है, डेनमार्क को जिस तरह उदरस्थ कर लिया गया है, उनसे यही प्रमाणित होता है.

मैं जानता हूं कि आप जिस जीवन-दर्शन में विश्वास करते हैं, उसमें ऐसे विनाशकारी कार्यों का भी औचित्य होगा किंतु हमें बचपन से यह सिखाया गया है कि ऐसे कार्य मानवता को पतित करते हैं. इसलिए हम जैसे लोग आपके शस्त्रों की सफलता की कामना कर ही नहीं सकते हैं.

हमारी एक अलग ही स्थिति है. हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भी उतना ही विरोध करते हैं जितना नाजीवाद का. अगर कोई फर्क है तो विरोध की

मात्रा व चरित्र का फर्क है. मनुष्य-जाति के पांचवें हिस्से को ब्रितानी साम्राज्यवाद ने जिस तरह अपने पांवों तले लाया है उसका विवरण क्या दें हम! हम उनका जो प्रतिकार कर रहे हैं, उसका हेतु ब्रितानी जनता को हानि पहुंचाना नहीं है. हम लड़ाई के मैदान में उन्हें पराजित करना नहीं चाहते हैं; हम चाहते हैं कि उनका मन व मानस बदले.

हमारा संघर्ष ब्रितानी शासन के खिलाफ निहत्था विद्रोह है. हम उनका मन व मानस बदल पाएं या नहीं लेकिन हम दृढ़ प्रतिज्ञ हैं कि अपने अहिंसक असहयोग से हम उनका राज चलाना असंभव कर देंगे. हमारे प्रतिकार की प्रकृति ऐसी है कि जिसकी काट संभव नहीं है. हमारा प्रतिकार इस प्रतीति पर आधारित है कि कोई भी शोषक अपने शोषितों के सहयोग के बिना, फिर वह सहयोग रजामंदी से हो या बलात्कार से, अपनी मनमानी कर ही नहीं सकता है. हमारे शासक हमारे शरीर और भूमि पर अधिकार कर सकते हैं, किंतु हमारी आत्मा पर नहीं. भारत के सभी स्त्रियों-पुरुषों-बच्चों के संपूर्ण विनाश के बिना वे हमारा शरीर व भूमि भी हथिया नहीं सकते हैं. मैं जानता हूं कि हमारे सारे नागरिक बलिदान का वह चरम हासिल नहीं कर सकते, और यह भी सच है कि भय हमारे असहकार की कमर तोड़ सकता है लेकिन मेरा तर्क तो उससे आगे का है.

मैं कहता हूं कि यदि हम भारत में ऐसे स्त्रियों-पुरुषों

> जिनके हाथों में हथियार हैं वे उसे छोड़ें; जिनके हाथ में युद्ध छेड़ने की शक्ति है, वे युद्ध को नहीं, शांति को चुनें. जबर्दस्ती से लादी शांति शांति नहीं होती है. जरूरत है संवाद बनाने व संवाद करने की. संवाद इसलिए नहीं कि किसी पर धौंस जमाएं हम, बल्कि इसलिए कि हम उनका सामना कर सकें. यीशू ने मौत पर विजय पाई थी और उससे अपने सभी तरह के प्रतिपक्षियों को हमेशा-हमेशा के लिए पराजित किया था; और उनकी यह विजय संपूर्णतः अहिंसक थी. वह प्यार की ताकत थी जो माफ करना व उदार बनना सिखाती है. मैं अपील करता हूं कि मध्य-पूर्व के सभी प्रभावी लोग यीशु की तरफ उन्मुख हों ताकि वे शांति की शक्ति से अपना परिष्कार कर सकें.
>
> **● पोप लियो**

की खासी संख्या तैयार कर लें जो शोषक के प्रति कोई द्वेष न रखते हुए, उसके सामने घुटने टेकने के बजाए अपनी जान देने को तैयार हों तो वे हिंसा के आतंक से आजाद हो जाने का रास्ता संसार को दिखा सकते हैं. जब मैं ऐसा कहता हूं तब आप मेरा भरोसा कीजिए कि भारत में ऐसे स्त्रियों-पुरुषों की संख्या इतनी होगी कि जिसका आप अनुमान भी नहीं लगा सकते. पिछले 20 सालों से उन्हें इसी का प्रशिक्षण मिलता रहा है.

हम पिछली आधी सदी से कोशिश करते आए हैं कि ब्रितानी राज को उखाड़ फेंकें. आज आजादी की हमारी लड़ाई जितनी मजबूत है, उतनी पहले

पश्चिम एशिया में चल रहे तनाव के संदर्भ में, ईरान के प्रति भारत सरकार की नीति में एक सूक्ष्म लेकिन महत्वपूर्ण बदलाव दिखाई देता है. सरकार की प्रतिक्रियाओं से लगता है कि भारत अपने पारंपरिक संतुलित दृष्टिकोण से हट रहा है. भारत सरकार ने ईरान की कुछ कार्रवाइयों की आलोचना तो शीघ्रता से की है, लेकिन अमरीका और इस्राइल के प्रति वह चुप्पी ही साध रही है. उसका यह रवैया हमारी विदेश-नीति की सुसंगतता पर प्रश्न उठाता है. दशकों तक भारत ने अपनी रणनीतिक स्वायत्तता पर गर्व किया है. उसने पश्चिम एशिया के सभी प्रमुख पक्षों के साथ अब तक संतुलित रिश्ता रखा है. लेकिन आज वह विरासत कमजोर होती लग रही है. अमरीका और इस्राइल के साथ भारत की बढ़ती निकटता, जिसके पीछे आर्थिक, तकनीकी और सुरक्षा के मुद्दे हैं, उसकी क्षेत्रीय कूटनीति को प्रभावित कर रही है. भारत की रणनीतिक सोच में ईरान का महत्व घटता लगता है. यदि ऐसा है तो यह हमारे लिए दीर्घकालिक जोखिम पैदा कर सकता है. ईरान से हमारी दूरी इस क्षेत्र में हमारे हितों को नुकसान पहुंचा सकती है और हमारी तटस्थता की छवि को कमजोर कर सकती है. इस क्षेत्र में जैसे हालात बन रहे हैं उनसे एक मूलभूत प्रश्न खड़ा होता है कि क्या हम किसी एक पक्ष के साथ जुड़ते हुए भी अपनी रणनीतिक स्वायत्तता का दावा कर सकते हैं?

● चिन्मय आर. घरेखान ('द हिंदू' से साभार)

नहीं थी. हमारा सबसे मजबूत राजनीति संगठन, मैं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की बात कर रहा हूं, उसी आजादी को हासिल करने की कोशिश में लगा है. अहिंसक प्रयासों से हमें खासी सफलता मिली है. हम उस सही साधन की तलाश में हैं कि जिससे संगठित हिंसा की, दुनिया की सबसे बड़े प्रतिनिधि ब्रितानी साम्राज्य का मुकाबला किया जा सके. आपने भी उनको चुनौती दी है. अब देखना यह है कि हिंसा का बेहतर संगठन किसके पास है - जर्मनों के पास कि ब्रिटेन के पास!

हम जानते हैं कि हमारे लिए व दुनिया के गैर-ब्रितानी लोगों के लिए ब्रितानी दमन का मतलब क्या होता है. फिर भी हम कभी नहीं चाहते हैं कि जर्मनी की मदद से हम ब्रितानी हुकूमत से मुक्ति पाएं.

हमें अहिंसा के रूप में वह हथियार मिला है कि जिसके बल पर हम दुनिया की सबसे हिंसक ताकतों के सम्मिलित दमन का भी मुकाबला कर सकते हैं. जैसा मैंने कहा है, अहिंसक ढंग के संघर्ष में पराजय जैसी स्थिति होती ही नहीं है. यह पूरा दर्शन ही बिना मारे या चोट पहुंचाएं ''करो या मरो'' का पाठ पढ़ाता है. इसमें धन की करीब-करीब कोई जरूरत नहीं होती है और आपने विनाश के जिस विज्ञान को इतनी बारीकी से साध लिया है, इसे उसकी मदद की चाह भी नहीं होती है. मेरे लिए यह हैरानी की बात है कि आप यह नहीं देख पा रहे हैं कि इस हथियार पर किसी एक का एकाधिकार भी नहीं है.

यदि ब्रितानी नहीं तो कोई दूसरी ताकत निश्चित ही विनाश का आपसे बेहतर तरीका खोज लेगी और आपको आपके ही खेल में पराजित कर देगी. आप अपने लोगों के लिए कोई ऐसी विरासत नहीं छोड़ रहे हैं कि जिस पर वे गर्व कर सकें. आपने क्रूरता का जाल जितना भी बारीक बुना है, उसका वर्णन करने में उन्हें कभी गर्व की अनुभूति नहीं होगी. इसलिए मैं समस्त मानवता की ओर से आपसे अनुरोध करता हूं कि यह युद्ध रोक दीजिए. आपके व इंग्लैंड के बीच जो भी मसला है उसे आप दोनों की पसंद के किसी अंतरराष्ट्रीय न्यायाधिकरण को सौंप देने में आप कुछ भी खोएंगे नहीं. यदि युद्ध में आपको सफलता मिलती है तो भी इसका मतलब यह नहीं होगा कि आप सही थे. उससे साबित इतना ही होगा कि आपके पास विनाश की शक्तियां ज्यादा थीं. लेकिन किसी तटस्थ न्यायाधिकरण का फैसला आता है तो वह किसी हद तक, जितना मनुष्य से संभव है, बता सकेगा कि कौन सही रास्ते पर था.

आप जानते हैं कि मैंने सभी ब्रितानी नागरिकों से अपील की है कि वे अहिंसक प्रतिकार का मेरा रास्ता अपनाएं. मैंने ऐसा इसलिए किया कि ब्रितानी जनता जानती है कि मैं बगावती हूं लेकिन उनका मित्र हूं. आपके और आपकी जनता के लिए मैं अजनबी हूं. इसलिए अपने भीतर मैं वह नैतिक बल नहीं

दुनिया भर में प्रेस का दमन किया जा रहा है. 'कमेटी टु प्रोटेक्ट जर्नलिस्ट्स' के अनुसार 2025 के अंत में. दुनिया भर में 330 पत्रकार जेल में थे जबकि एक दशक पहले वे 200 से भी कम थे. एक-तिहाई से अधिक पत्रकार पांच साल या उससे अधिक की सजा काट रहे हैं. लगभग आधे अदालत द्वारा सजा सुनाए बिना ही सलाखों के पीछे हैं. प्रेस के 129 सदस्यों की मौत काम के दौरान या काम के कारण हुई है. ये 1992 में, कमिटी बनने के बाद से सबसे अधिक संख्या है. प्रेस की स्वतंत्रता के सबसे बड़े अपराधियों में चीन, रूस, मिस्र, इथियोपिया, ईरान, इजराइल, म्यांमार, सूडान और तुर्किये हैं. पत्रकारों पर सरकार के दुश्मन, आतंकवादी, विदेशी एजेंट या जासूस होने तक के झूठे आरोप लगाए गए हैं.

फरवरी में कंबोडिया ने दो पत्रकारों को 14-14 साल की सजा सुनाई. सेनेगल में एक समाचार टिप्पणीकार अब्दू एंगुएर को पब्लिक प्रोसीक्यूटर के बयान पर सवाल उठाने की वजह से गिरफ्तार किया गया है.

गजा में इस्राइल के युद्ध के कारण 100 फलसतीनी पत्रकारों की बिना कारण गिरफ्तारी हुई. उससे दोगुने अब तक मारे गए हैं. मैक्सिको में भी निर्भीक पत्रकारों पर गाज गिरी है. ट्रंप प्रशासन ने उन पत्रकारों को आड़े हाथों लिया है, जो उनके अनुसार नहीं चलते. 'वॉशिगंटन पोस्ट' के एक रिपोर्टर के घर की तलाशी इसी कारण ली गई है. ट्रंप ने 'द न्यूयॉर्क टाइम्स', 'सीएनएन', 'द वॉल स्ट्रीट जर्नल', 'द वाशिगंटन पोस्ट' के मालिकों के खिलाफ मुकदमे तक दायर किए हैं.

अब भारत भी इस दिशा में तेजी से सीढ़ियां चढ़ रहा है. आज जितने पत्रकार-लेखक-बौद्धिक जन हमारी जेलों में बंद हैं, उतने पहले कभी नहीं थे. डरा हुआ तंत्र हमेशा लोक का दमन करता है.

● क्लाउडिया गोल्डिन

पाता हूं कि आपसे भी वही अपील करूं जो मैंने ब्रितानी जनता से की है. ऐसा नहीं है कि वह आप पर भी उतनी ही तीव्रता से लागू नहीं होता है जितना ब्रितानी लोगों पर लागू होता है. लेकिन आपसे मेरी अपील उससे कहीं सरल, सुपरिचित व व्यावहारिक है. अभी के हालात में, जब यूरोप के लोगों का दिल शांति के लिए तरस रहा है, हमने यह तक किया है कि अपना शांतिमय संघर्ष भी स्थगित कर दिया है. इस नाजुक वक्त में, जिसकी निजी तौर पर आपके लिए कोई खास कीमत नहीं है, मैं आपसे यूरोप के उन करोड़ों लोगों के हित में शांति के लिए प्रयास करने की मांग करूं कि जिनकी मूक चीत्कार मेरे कानों में आ रही है? मैं ऐसा करूं तो क्या मैं ज्यादती करूंगा? मेरे कान करोड़ों मूक लोगों के चीत्कार के प्रति हमेशा संवेदनशील रहे हैं.

मैं जब गोलमेज परिषद के प्रतिभागी के रूप में इंग्लैंड गया था तब रोम भी गया था और तब मुझे सिग्नोर मुसोलिनी से मिलने का सुअवसर मिला था. इस बिना पर मैं आप दोनों को सम्मिलित रूप से इस पत्र से संबोधित करना चाहता हूं. मुझे आशा है कि सिग्नोर भी इस पत्र को जरूरी संशोधनों के साथ अपने लिए भी मानेंगे.

मैं,
आपका सच्चा मित्र
मोहनदास करमचंद गांधी

इनमें से एक भी पत्र हिटलर के पास नहीं पहुंचा. हिटलरी अंदाज वाली ब्रितानी सरकार ने इन पत्रों को खतरनाक मान कर, गांधी को बताए बिना ही जब्त कर लिया. लेकिन इतिहास की गति को कौन जब्त कर सका है! इसके बमुश्किल 5 साल बाद, 30 अप्रैल 1945 की दोपहर 3.30 बजे हिटलर ने आत्महत्या कर ली... दूसरा विश्वयुद्ध वह हारता जा रहा था. मित्र राष्ट्रों की घेराबंदी कसती जा रही थी. रूसी फौजें जर्मनी के भीतर, बर्लिन तक आ पहुंची थीं. उनके बूटों की धमक हिटलर के बंकर तक पहुंच रही थी. अहंकार से भरे तानाशाह की जगह अब हिटलर पराजय की कटुता से भरा एक खोखला इंसान भर बचा था. उसके सलाहकार-फौजी अधिकारी उसे सलाह दे रहे थे कि हमें आत्मसमर्पण की संभावनाओं पर मित्र राष्ट्रों से बातचीत करनी चाहिए. हिटलर इन 'कायरों-द्रोहियों' की सुनने को तैयार नहीं था.

29 अप्रैल 1945 यानी आत्महत्या से ठीक एक दिन पहले, उसी बंकर में

उसने लंबे समय से अपनी संगिनी रही इवा ब्राउन से विवाह किया. 30 अप्रैल 1945 को उसने इवा को और अपने अंतिम दिनों के सहायकों को साइनाइड की गोलियां बांटी और कहा कि हमारी लाश भी दुश्मनों के हाथ नहीं पड़नी चाहिए...

इवा के साइनाइड निगल लिया; हिटलर ने अपनी कनपटी पर रख कर पिस्तौल का घोड़ा दबा दिया. दोनों की लाशें बाहर बगीचे में, पेट्रोल डाल कर फूंक दी गईं.

हिटलर पढ़ तो नहीं सका कभी लेकिन इतिहास के सीने पर गांधी का लिखा वह वाक्य आज भी टंगा, थरथराता है : **''यदि ब्रितानी नहीं तो कोई दूसरी ताकत निश्चित ही विनाश का आपसे बेहतर तरीका खोज लेगी और आपको आपके ही खेल में पराजित कर देगी. आप अपने लोगों के लिए कोई ऐसी विरासत नहीं छोड़ रहे हैं कि जिस पर वे गर्व कर सकें. आपने क्रूरता का जाल जितना भी बारीक बुना है, उसका वर्णन करने में उन्हें कभी गर्व की अनुभूति नहीं होगी. इसलिए मैं समस्त मानवता की ओर से आपसे अनुरोध करता हूं कि यह युद्ध रोक दीजिए...''**

ट्रंप हों कि नेतन्याहू कि पुतिन कि जिनपिंग कि हमारे यहां पैदा हो रहे आज-कल के छोटे-बड़े हिटलर- सबके लिए गांधी के ये शब्द वेद-वाक्य-से अमर हैं.



अब हाल यह है कि अपने सारे पिटे मोहरों को छिपा कर, युद्ध को विजयी घोषित करने की खोखली मुद्रा धारे ट्रंप ईरान से शांतिवार्ता के रास्ते तलाश रहे हैं. पाकिस्तान में पहले दौर की शांति-वार्ता इसलिए विफल रही कि 'छोटे ट्रंप' जेडी वांस न तो शांति के लिए आए थे, न वार्ता के लिए. वे आए थे इस तेवर में कि अमरीका युद्ध के मैदान में जो न हासिल कर सका, वह पाकिस्तान को सामने रख कर कर लेगा. लेकिन ईरान के प्रतिनिधि मंडल के साथ, उसी विमान में बैठ कर वे बच्चियां भी आई थीं कि जिनका युद्ध के पहले झपाटे में अमरीका ने संहार कर दिया था. ईरानी टोली के साथ, हवाई जहाज की हर सीट पर शहीद हुई एक बच्ची की तस्वीर रखी

गई थी. शहीद बच्चियों की जिंदा उपस्थिति में ईरान कैसे कमजोर पड़ सकता था!

अब ट्रंप ने पाकिस्तान को फिर से काम पर लगाया है कि शांति वार्ता का दूसरा दौर शुरू हो. होर्मुज को जबर्दस्ती हथियाने की विफलता भी अमरीका को बता रही है कि दुनिया कितनी बदल गई है. अमरीकी धौंस में जीने के अभ्यस्त नाटो के प्रायः सभी देश अमरीका से मुंह फेर रहे हैं. जिस इस्राइल को अमरीका इस युद्ध का मोहरा बना रहा था, वह अमरीका के साथ तो है लेकिन उसने अमरीका का हाथ छोड़ दिया है. ख़ून सने पराजित हाथ का साथ कौन देता है?

यह एकदम पकी हुई स्थिति है कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति का शांति पर्व शुरू हो. कोई नैतिक आवाज ऐसी उठे कि जो सारे संसार को समेट ले, बांध ले. पाकिस्तान इस काम की गुरुता के हिसाब से छोटा पड़ता है. चीन या रूस यह करेंगे तो इसका कूटनीतिक पक्ष ही उभरेगा, नैतिक पक्ष कहीं खो जाएगा. फिर? फिर क्या भारत को याद आएगी कि गांधी ने अंतिम सांस तक यह आशा नहीं छोड़ी थी कि अंधकार में घिरे विश्व को भारत रोशनी की तरफ ले जाएगा? इतिहास जुमलेबाजी नहीं करता है. वह ऐतिहासिक दायित्व निर्धारित करता है. क्या भारत के कंधों में आज इतना बल है?

● **कु.प्र.**

*

खुद को बेहतर बनाने पर ध्यान दो; यह सोचने पर नहीं कि तुम बेहतर हो!

● **बोहदी सैंडर्स (अमेरिकी लेखक)**

दस्तावेज

युद्ध व तानाशाही के ख़िलाफ
एक निर्णायक बयान

भाइयो और बहनो,

मुझे माफ करना, मैं सम्राट बनना ही नहीं चाहता- न यह मेरा उद्देश्य है, न मेरी आकांक्षा! मैं किसी पर शासन नहीं करना चाहता, न किसी को जीतना चाहता हूं. मैं चाहता केवल इतना हूं कि यदि संभव हो तो मैं हर मनुष्य की - फिर वह यहूदी हो कि ईसाई कि काला कि गोरा - सबकी सहायता कर सकूं.

हम सब एक-दूसरे की मदद करना चाहते हैं. यही मनुष्य का स्वभाव है. हम एक-दूसरे के लिए सुख का कारण बन कर जीना चाहते हैं, न कि पीड़ा का कारण बन कर. हम न घृणा के लिए बने हैं, न तिरस्कार के लिए. हमारी इस दुनिया में सबके लिए पर्याप्त जगह है, और यह सुंदर धरती इतनी उदार है कि हम सबका भरण-पोषण कर सकती है. हम सबका जीवन सुंदर हो सकता है, स्वतंत्र हो सकता है, पर हम उस रास्ते से कहीं भटक गए हैं.

लोभ ने हमारी आत्मा को विषाक्त कर दिया है; उसने हमारे बीच दीवारें खड़ी कर दी हैं—घृणा की दीवारें! उसने हमें दुःख और रक्तपात की ओर धकेल दिया है. हमने खासी रफ्तार तो पकड़ ली है लेकिन हम ऐसी जकड़ में बंध भी गए हैं कि आगे बढ़ नहीं पा रहे हैं. जिन साधनों से समृद्धि आनी थी, उन्हीं का विनाश कर हम अभाव में जी रहे हैं.

हम सोचते बहुत हैं, महसूस बहुत कम करते हैं. हम चतुर तो हो गए हैं, पर करुणा खो बैठे हैं. हमें मशीनों से अधिक मानवता की जरूरत है, बुद्धि से अधिक हृदय की जरूरत है. करुणा और कोमलता के बिना हमारा जीवन हिंसा के सागर में बिला जाएगा.

विमान और रेडियो ने हमें एक-दूसरे के निकट ला दिया है. इन मशीनों का स्वभाव ऐसा है जो हमें मानवता की ओर, भाईचारे की ओर, एकता की ओर ले

जाता है. मेरी आवाज आज इनकी ही वजह से उन करोड़ों तक पहुंच रही है जो निराश हैं, पीड़ित हैं, और उस व्यवस्था के शिकार हैं जो निर्दोषों को कष्ट देती है.

मैं उन सबसे कहना चाहता हूं—निराश मत होइए! यह दुःख स्थायी नहीं है. यह हमारे लोभ का परिणाम है. यह उन लोगों के भय के कारण है जो मानव की प्रगति से डरते हैं. यह घृणा मिटेगी; अत्याचारी समाप्त होंगे; और जो शक्ति जनता से छीनी गई है, वह जनता को वापस मिलेगी. **जब तक मनुष्य जीवित है, स्वतंत्रता भी जीवित रहेगी.**

सैनिको, अपने आपको उन लोगों के हवाले मत करो जो तुम्हें तुच्छ समझते हैं, तुम्हें गुलाम बनाते हैं, तुम्हारे जीवन को नियंत्रित करते हैं. जो तुम्हें बताते हैं कि क्या सोचना है, क्या करना है, क्या महसूस करना है; जो तुम्हारे साथ पशुओं जैसा व्यवहार करते हैं और तुम्हें अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करते हैं.

लेकिन मत भूलना कि तुम मशीन नहीं हो; पशु नहीं हो; तुम मनुष्य हो! तुम्हारे भीतर प्रेम है, करुणा है. घृणा तुम्हारा स्वभाव नहीं है. घृणा तो वे ही करते हैं जो प्रेम से वंचित रहते हैं. इसलिए मैं तुमसे कहता हूं — **गुलामी के लिए मत लड़ो; स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करो.**

धर्मग्रंथों में कहा गया है कि ईश्वर मनुष्य के भीतर बसता है; किसी एक मनुष्य या किसी एक वर्ग के भीतरी नहीं, हम सबके भीतर!

हमारे पास शक्ति है—सृजन की शक्ति, सुखी संसार रचने की शक्ति ! तुम इस जीवन को स्वतंत्र और सुंदर बना सकते हो; तुम इसे एक महान और सार्थक यात्रा बना सकते हो. तो **आओ, लोकतंत्र के नाम पर हम उस शक्ति को पहचानें और हम सब एक हों.**

आओ, हम एक ऐसे नए संसार के लिए संघर्ष करें, जहां हर व्यक्ति को काम मिले, हर युवा को सुनहरा भविष्य मिले, वृद्धों को सुरक्षा मिले. इन्हीं का वादा कर के तो ये अत्याचारी सत्ता में आए हैं. पर इन्होंने हमें धोखा दिया है; आगे भी वे धोखा ही देंगे.

वे अपनी आजादी चाहते हैं लेकिन जनता को गुलाम बनाते हैं. अब समय आ गया है कि हम इस छल को समाप्त करें. आओ, हम इस संसार को इन सबसे मुक्त करें कृत्रिम सीमाओं से, लोभ से, घृणा और असहिष्णुता से!

वे अपनी आजादी चाहते हैं लेकिन जनता को गुलाम बनाते हैं. अब समय आ गया है कि हम इस छल को समाप्त करें. आओ, हम इस संसार को इन सबसे

मुक्त करें – कृत्रिम सीमाओं से, लोभ से, घृणा और असहिष्णुता से! आओ, हम विवेक और मानवता के उस संसार के लिए संघर्ष करें जहां विज्ञान मनुष्य के लिए प्रगति व सुख का मार्ग बनाता है.

सैनिको! साथियो! आओ, लोकतंत्र के नाम पर हम सब एक हो जाएं.

20 वीं शताब्दी के कला-संस्कृति के संसार का अंतरराष्ट्रीय गणित व व्याकरण जिन दो 'लघु मानवों' ने एकदम-से उलट- पलट कर, सिरे से बदल कर रख दिया, वे थे **पाब्लो पिकासो** तथा **चार्ली चैप्लिन!** पिकासो ने कैनवस को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का ऐसा मंच बना दिया जिस पर रंगों व रेखाओं ने युद्ध व हिंसा को चुनौती देनी शुरू की; चैप्लिन ने फिल्मी पर्दे पर नाजियों व जंग के खिलाफ जैसी वैचारिक ज्वाला प्रज्वलित की वैसे फिल्मी पर्दे की कल्पना भी किसी ने नहीं की थी...



बात 1931 की है. गांधी दूसरे गोलमेज सम्मेलन के लिए तब लंदन में थे. सम्मेलन के मंच पर जो हो रहा था, उसका चौतरफा दवाब तो उन पर था ही, उससे कहीं अधिक दवाब था लंदन की उन सामाजिक हस्तियों का जो उनसे निजी मुलाकातों के लिए लगातार भीड़ लगाए रहते थे. सवाल था, किनसे मिलें, किनसे नहीं, कैसे बचें? रास्ता यह निकाला गया कि मुलाकात का समय मांगने वालों की समीक्षा की जाए व औचित्य होने पर ही उन्हें मिलने की अनुमति दी जाए. हर रोज मीरा बहन की सहायता से गांधी ऐसी समीक्षा करते थे. उस रोज की मुलाकातों में, एक मांग के साथ जो कार्ड नत्थी था उस पर लिखा था : **चार्ली चैप्लिनः फिल्म अभिनेता-निर्देशक.**

गांधी ने वह कार्ड पढ़ा और उसे इंकार वाले ढेर पर धर दिया, और दूसरे नामों को देखने लगे, तो मीरा बहन ने कहा : नहीं बापू, आपको इनसे तो मिलना चाहिए! बापू ने सवालिया नजर से मीरा बहन को देखा मानो कह रहे हों - अरे, मेरा फिल्मों से क्या वास्ता? मैं तो इनको जानता भी नहीं हूं! लेकिन मीरा बहन चार्ली चैप्लिन का मतलब जानती थीं. उन्होंने बापू को राजी कर लिया कि वे चार्ली चैप्लिन से मिलें ही.

नियत समय पर, नियत दिन चार्ली चैप्लिन गांधी के सामने थे. गांधी ने खिली धूप जैसी हंसी व निश्छल हार्दिकता के साथ उन्हें पास बिठाया... फिर इनसे कहूं तो क्या कहूं जैसी दुविधा में से वे जैसे रास्ता खोज रहे थे कि चार्ली चैप्लिन अभिभूत स्वर में बोले : मैं हैरान हूं कि मशीनों के बारे में आपके विचार कितने ताजा हैं व कितनी नई खिड़कियां खोलते हैं! मैं खुद मशीनों के बारे में आपकी तरह ही सोचता हूं...

दोनों के बीच संवाद की धारा बन गई. बापू भी साश्चर्य सुनते रहे कि यह फिल्मवाला आधुनिकता, लोकतंत्र, मशीनीकरण की ज्यादती आदि-आदि सवालों की इतनी गहरी समझ व ऐसी निजी प्रतिबद्धता रखता है. चैप्लिन ने भी इस साधारण-से असाधारण इंसान के सामने बैठ कर, कहीं गहरे समझा कि जो गलत है, अनर्थ है उसके सामने जो सवाल न खड़ा करे, वह कला नहीं है. इस तरह उस शताब्दी के दो धुरंधरों को एक दर्शन ने बांध कर साथ ला दिया...

फिर गांधी चैप्लिन कभी नहीं मिले. लेकिन मशीनों के प्रति मनुष्य के अतिरेक का गांधी ने जिस तरह प्रतिवाद व प्रतिकार किया, उसे चैप्लिन ने 1936 में, कोई डेढ़ घंटे की अपनी मशहूर फिल्म **मॉडर्न टाइम्स** में सेल्यूलाइड पर लिख दिया.

महान कलाकार-अभिनेता-निर्माता-निर्देशक-लेखक चार्ली चैप्लिन की सभी फिल्में मूक थीं. **मॉडर्न टाइम्स** उनकी पहली फिल्म थी जो बोलती थी. यह हिटलर का दौर था जिसके सामने सारी दुनिया घुटनों के बल बैठी थी. वह सबको रौंद रहा था, सभी रौंदे जा रहे थे. चैप्लिन के कलाकार ने इसका प्रतिवाद किया और हमें मिली **मॉडर्न टाइम्स - एक बड़ा तानाशाह** जैसी फिल्म. यह फिल्म अन्याय-अनाचार-असभ्यता के सामने कला कैसे चुनौती खड़ी करती है, इसका मानक बन गई.

चैप्लिन ने इस फिल्म में दोहरी भूमिका निभाई थी - वे एक दब्बू-से यहूदी नाई बने थे और वे ही तोमानिया के तानाशाह हैंकल भी बने थे. एक-सी सूरत, दो अलहदा चरित्र! अपनी आत्मकथा में चैप्लिन ने लिखा है : **''नाजीवाद की मुखालफत करने के लिए तुम्हारा यहूदी होना जरूरी नहीं है. उसके लिए जरूरी बस इतना ही है कि तुम सामान्य, सुसंस्कृत मनुष्य बनो!''**

चैप्लिन और हिटलर के जन्म के बीच मात्र 4 दिनों का फासला था. मानवता के दो ध्रुवों के इन प्रतिनिधियों के बीच समानता का दूसरा कोई तंतु नहीं था. वक्त के आईने में दोनों की सूरत हमें दिखाई देती है - एक, जिसकी छवि से आईना ही विकृत हो उठता है; दूसरा वह जिसकी छवि से इंसान की सूरत निखर कर,

आईने को भी प्रकाशवान बना जाती है.

फिल्म के अंत में वह दब्बू यहूदी नाई, जो शक्ल की समानता की वजह से तानाशाह हैं कल समझ लिया जाता है, फौजी पोशाक में अपने सैनिकों से खचाखच भरी सभा को संबोधित करता है - युद्द, विनाश, तानाशाही के खिलाफ व मनुष्य व मनुष्यता के पक्ष में दिया गया एक अद्भुत व्याख्यान! चैप्लिन ने खुद ही बार-बार लिख कर, सुधार-सुधार कर यह लंबा भाषण तैयार किया था जिसे आपने शुरू के पन्नों पर पढ़ा. पर्दे पर जब अपनी कलाकारी व आवाज की गहनता से वे इसे पेश करते हैं तो वे शब्द हवा में टंगे, दिमाग में बजते ही रहते हैं - 1940 से ले कर आज 2026 तक उसकी न गूंज खत्म हुई है, न उसका असर कम हुआ है.

✳

आह्वान

हम अपने लोकतंत्र की जड़ें मजबूत करें

० बिल क्लिंटन

राष्ट्रपति ट्रंप दुनिया भर में ही युद्ध की चिंगारी नहीं भड़का रहे हैं बल्कि अपने देश के भीतर भी गहरा विभेद पैदा कर रहे हैं. कैथोलिक ईसाइयों के धर्मगुरु पोप लियो ने युद्ध का निषेध करते हुए जब कहा कि युद्धों से दुनिया भर पाई है और अपने को सर्वशक्तिमान मानने का किसी का अहंकार ईरान-युद्ध को भड़का रहा है. उन्होंने कहा कि जब अनगिनत लोग पीड़ा से गुजर रहे हैं, अनगिनत मासूम मारे जा रहे हैं, तब किसी को सामने आकर कहना ही चाहिए कि इससे बेहतर ढंग भी है काम करने का. पोप के बयान से ट्रंप का अहंकार आहत हुआ और वे उबल पड़े : मैं ऐसे पोप को पसंद नहीं करता हूं जो मानता है कि ईरान के पास अणुबम हो तो इसमें एतराज क्या है! उन्होंने पोप पर निजी हमला करते हुए कहा कि वे मेरी बदौलत ही पोप बने हैं धर्मगुरुओं से अमरीकी राष्ट्रपतियों की असहमति होती रही है लेकिन कभी, किसी राष्ट्रपति ने पोप पर ऐसा सीधा हमला नहीं किया था. पोप पर ट्रंप के हमले के संदर्भ में अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने अपने देशवासियों को संबोधित करते हुए कुछ बुनियादी बातों की याद दिलाई है

मेरे प्यारे देशवासियो,

आज मैं आपसे एक ऐसी घटना के बारे में बात करना चाहता हूं, जो बीते चौबीस घंटों में घटी है – और मैं अच्छी तरह जानता हूं कि इसका प्रभाव लंबे

समय तक गूंजता रहेगा. मैं यह कहते हुए भी काफी असहज मनःस्थिति में हूं.

रविवार की रात — 12 अप्रैल 2026 — ऑर्थोडॉक्स ईस्टर के पावन पर्व की रात थी. उसी रात संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति ने अपने ' ट्रुथ सोशल' पर 334 शब्दों का एक तीखा वक्तव्य लिखा जो पोप लियो के विरुद्ध क्या-क्या नहीं कह गया. कैथोलिक चर्च के दो सहस्राब्दियों के इतिहास में पोप लियो पहले अमरीकी मूल के पोप हैं. राष्ट्रपति ने पोप को ''अपराध का मुकाबला करने में अक्षम-निर्बल व्यक्ति,'' बताया; विदेश-नीति को समझने के 'अयोग्य' करार दिया; और फिर एक ऐसी बात कह दी जिसने मुझे हैरान व विवश कर दिया कि मैं बोलूं. उन्होंने कहा : **''यदि मैं व्हाइट हाउस में न होता, तो लियो वेटिकन में न होते.''**

साथियो, मैंने राजनीति में लंबा समय बिताया है. मैंने राष्ट्रपतियों को कांग्रेस से टकराते और मीडिया से उलझते देखा है, विदेशी नेताओं से और अपनी ही पार्टी से भिड़ते भी देखा है. परंतु मैंने अपने पूरे जीवन में एक बार भी किसी कार्यरत अमरीकी राष्ट्रपति को यह कहते नहीं सुना कि उसने ही विश्व के सबसे बड़े ईसाई समुदाय के आध्यात्मिक प्रमुख को उनकी जगह पर स्थापित भी किया है. **यह सामान्य राजनीतिक असहमति का प्रसंग नहीं है. यह धार्मिक पवित्रता पर सत्ता का कुठाराघात है.**

राष्ट्रपति ने यह प्रसंग यहीं समाप्त नहीं किया. जॉइंट बेस एंड्रूज के रनवे पर, पत्रकारों से बातचीत करते हुए, उन्होंने फिर यह प्रसंग छेड़ा और कहा : ''मैं पोप लियो का प्रशंसक नहीं हूं. वे बहुत उदारवादी बनते हैं और उस रौ में इस कदर बह जाते हैं कि लगता है, शायद उन्हें अपराधी पसंद आते हैं. और फिर उन्होंने वह कहा जिसने अधिकाधिक लोगों का ध्यान खींच लिया. उन्होंने कहा कि उन्हें पोप लियो से कहीं अधिक पसंद आते हैं उनके भाई, क्योंकि वे ' मेक अमरीका ग्रेट एगेन' के मेरे दर्शन से पूरी तरह सहमत हैं.

लेकिन इस कथा का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष अभी सामने आना बाकी था, और वह था पोप लियो का राष्ट्रपति को उत्तर. अल्जीरिया जाते हुए, अपने विमान से, पोप लियो ने पत्रकारों से कहाः ''मुझे ट्रंप प्रशासन से या किसी से भी प्रभु यीशु का संदेश निर्भीक होकर कहने में कोई भय नहीं है,'' और फिर उन्होंने वह कहा, जो मेरे विचार में अत्यंत संयमित पोप का अत्यंत प्रखर प्रत्युत्तर था : ''मैं राजनेता नहीं हूं. मैं उनके साथ किसी बहस में उतरना नहीं चाहता,'' और उन्होंने ईसाइयों का वह अनमोल वचन दोहराया : ''धन्य हैं वे, जो शांति स्थापित करते हैं.''

अब आप जिस भी आस्था से जुड़े हों; या न भी हों तो भी यह समझना कठिन नहीं होगा कि यहां हुआ क्या! एक ओर था एक तीखा, अमर्यादित सार्वजनिक

प्रहार; दूसरी ओर था एक संयत, मौन, नैतिक जवाब! पोप ने कैसा भी प्रतिघात नहीं किया, अपशब्द नहीं कहे, खुद को श्रेष्ठ नहीं जताया. उन्होंने केवल इतना कहा : ''मुझे किसी से, किसी प्रकार का भय नहीं है. मैं आरोपों-प्रत्यारोपों के इस खेल में भाग ही नहीं लूंगा.'' इतना कह कर वे अपने कर्तव्य-पथ पर आगे बढ़ गए.

इसे नेतृत्व कहते हैं. यह दुर्बलता नहीं है, आत्मानुशासन की पराकाष्ठा है. मेरे राष्ट्रपति काल में भी ऐसे क्षण आए जब क्रोध का उत्तर क्रोध से देना सबसे सरल होता. परंतु मुझे गर्व है कि ऐसे हर अवसर पर मैंने प्रतिक्रिया नहीं, नैतिक विकल्प चुना.

आज दुनिया पीड़ा से भरी हुई है. असंख्य निर्दोष जीवन नष्ट हो रहे हैं. ऐसे में यदि कोई कहता है कि आज से बेहतर रास्ता भी संभव है, तो यह नैतिक नेतृत्व की मूल भाषा है.

मेरे साथियो, यह कोई साधारण विवाद नहीं है. यह हमारे लोकतंत्र की आत्मा से जुड़ा प्रश्न है. जब सत्ता यह मानने लगे कि हर संस्था, हर न्यायालय, हर चर्च, हर सहयोगी इस्तेमाल का एक साधन भर है; और ऐसा नहीं है तो वह शत्रु है, तब बात केवल मतभेद की नहीं रह जाती है, बल्कि लोकतांत्रिक संरचना की जड़ों को चुनौती बन जाती है.

हमारा देश विभाजित है, लोगों में असुरक्षा की गहरी भावना है. अर्थव्यवस्था को लेकर अनिश्चितता है. लोकतांत्रिक संस्थाओं में हमारा विश्वास कमजोर हुआ है. मैं यह भी समझता हूं कि लोग निराश और क्रोधित क्यों हैं. लेकिन ऐसे नाजुक समय में हमें याद रखना चाहिए कि नेतृत्व वह नहीं है कि जो सबसे ऊंची आवाज में बोल सकता है; नेतृत्व वह है जो सबसे अधिक दबाव के क्षण में भी संतुलित रह सकता है. हमारा अमरीकी लोकतंत्र एक सरल परंतु गहन विचार पर आधारित है कि हर शक्ति पर नियंत्रण आवश्यक है. कोई भी व्यक्ति उत्तरदायित्व से ऊपर नहीं है; और किसी भी पद की गरिमा, पद पर बैठे व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर करती है. हर पीढ़ी को अपने लोकतंत्र के इस चरित्र को संभाल कर रखना होता है. और आज यह जिम्मेवारी हमारी है.

जब मैं राष्ट्रपति था, तब मैंने बहुत कुछ सही किया, और कुछ गलत भी किया. लेकिन मैंने कभी यह नहीं भुलाया कि यह पद मुझसे बड़ा है; यह देश मुझसे बड़ा है; वे मूल्य, जिन पर इस राष्ट्र की नींव रखी गई है, वे सब हम सबसे बड़े हैं.

यही वह अमरीका है, जिस पर मेरा विश्वास आज भी अडिग है. और मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश अमरीकी मेरे इस विश्वास को साझा करते हैं.

*

युद्ध और फौज से आगे की दुनिया

० जैनेंद्र कुमार

एक पेंच में मनुष्यता फंसी है—उसे स्वतंत्रता का आनंद भी चाहिए, और भय से मुक्ति के लिए फौज भी चाहिए. वह भूल जाती है कि हमें फौजी ताकत के बल पर स्वतंत्रता चाहिए, तो उसकी कीमत भी अदा करना होती है; और उसकी कीमत है स्वतंत्रता के आनंद की कुर्बानी! गांधीजी ने इस पेंच को समझने व इससे छूटने का रास्ता सुझाया है जिसे हमें बार-बार समझना चाहिए

गांधी के जीवन के काम अधिकांश राष्ट्रीय क्षेत्र के दिखते हैं. पर उनका महत्व उससे गहरा है.

उन्होंने अपना लक्ष्य सत्यरूपी परमेश्वर का साक्षात्कार बताया है. उनकी दूसरी प्रवृत्तियों में भी, और स्वातंत्र्य-युद्ध के कार्यक्रमों में भी सत्य और अहिंसा के प्रति उनका गहरा आग्रह रहा. इनसे हटकर हिंसक उपायों से भारत का स्वराज्य आता हो तो वह भी उन्हें मान्य नहीं था. किसी दूसरे राजनीतिक पुरुष के लिए यह संभव नहीं हो सकता था. लेकिन उनके व्यक्तित्व और जीवन की भूमिका सतही राजनीति से अधिक व्यापक और ऊंची थी.

औद्योगिक और यांत्रिक क्रांति के साथ मानव सभ्यता ने जो रूप ग्रहण किया, वह जब अपनी संभावनाओं के छोर तक आया तो देखा गया कि सामने वहां युद्ध खड़ा है. दो दलों का युद्ध नहीं, समूची मानव-जाति को ही अपनी परिधि में समा लेने वाला भयावह युद्ध. युद्ध में से युद्ध उपज जाता है और हर बार वह पहले से विकटतर होता है. विचारक लोग हर जगह हैरान हैं कि चूक कहां है?

गांधीजी सभ्यता के इसी संकट में से निकलने का रास्ता खोजते हैं. मेरी

मान्यता है कि गांधीजी को आधार बनाकर ही विश्व संस्कृति का नया निर्माण होने वाला है.

औद्योगिक क्रांति ने तथाकथित उन्नति को तीव्र गति से आगे बढ़ाया है. एक-डेढ़ शताब्दी में यह जितना उभरा है उतना पहले की बीसों शताब्दियों में नहीं हुआ था. विज्ञान के चरण इतनी आश्चर्यजनक तीव्रता से बढ़ रहे हैं कि कुछ समय पहले स्वप्न में भी उसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी. मनुष्य की मस्तिष्क-शक्ति ने अपरिमित विकास पाया है. अणु का छेदन हो गया है. जड़ और चेतन के बीच का भेद टूट गया है. मानव के अधिकांश तत्व-दर्शन जड़-चेतना की इस पृथकता की बुनियाद पर खड़े थे. वे सब आज बेकार-से लगते हैं. सीमाएं समाप्त हो गई हैं, और पृथ्वी का दूसरे ग्रह-नक्षत्रों से व्यापार का परिच्छेद कब खुल जाए, कहा नहीं जा सकता.

इस अपूर्व उन्नति के साथ एक विपरीत परिणाम भी घटित हुआ है. व्यक्ति सब कहीं अपने जीवन को अस्थिर और असुरक्षित अनुभव कर रहा है. मानव-संबंधों के बीच श्रद्धा की जगह शंका ने ले ली है. एक आदमी दूसरे के लिए स्पर्द्धा का विषय बनता जा रहा है. सारा मानव-समाज सहयोग नहीं, स्पर्धा के आवेश में है.

यह है आज की हमारी आर्थिक सभ्यता और उसका तत्व-दर्शन! यह प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि को धार देता है कि कैसे वह दूसरे को व्यर्थ कर सकता और उससे लाभ सिद्ध कर सकता है. दूसरे के लिए सहारा और आश्वासन बनने का नियम, जो मानव-सभ्यता का लक्षण रहा है, क्षीण और जीर्ण होता जा रहा है.

फल यह हुआ है कि संहार और विनाश की प्रवृत्तियों के हाथ वैज्ञानिक आविष्कारों की डोर आ गई है. नये-नये अनुसंधान हो रहे हैं, लेकिन वहां न विज्ञान है, न नैतिकता! अस्त्र-शस्त्र की विकट आवश्यकता के दबाव के नीचे विज्ञान व वैज्ञानिक दब गए हैं. अपनों का संरक्षण और समय आने पर प्रतिपक्षी का दलन, यह वृत्ति मानव-जाति पर इस तरह सवार हो गई है, कि समूचा उत्पादन, आर्थिक विनियोजन और व्यापार-व्यवसाय सब उसी के लिए हो गए हैं. समाज की स्थिरता को साधने के लिए परिवार नाम की जो मूल संस्था हमारे पास थी, उसका ह्रास हो चला है. वहां की भूमिका भी मात्र आर्थिक हो चली है. स्त्री, जिसे अपेक्षाकृत हृदय के गुणों का प्रतीक कहा जाता है, अपनी सत्ता और मर्यादा गंवा बैठी है. वह मनोरंजन मात्र के लिए रह गई है.

मानव-संबंधों के बीच श्रद्धा की जगह शंका ने ले ली है. एक आदमी दूसरे के लिए स्पर्द्धा का विषय बनता जा रहा है

गांधीजी को पश्चिम के अनेक गुण प्रिय थे. उनकी कार्यतत्परता, समय की मूल्य-रक्षा, कुशलता, नागरिक स्वच्छता, साहसिकता और गतिशीलता आदि के लिए उनके मन में बहुत मान था. लेकिन उन्होंने यह भी पहचाना कि नैतिकता विहीन हो जाने पर ये गुण ही दोष बन जाते हैं. बुद्धि की विश्लेषकता, व्यवहार में गणित और विज्ञान की दृष्टि को उन्होंने किसी से कम नहीं अपनाया. किंतु धर्म-नीति से दिशा प्राप्त करने का उनका अटल आग्रह पश्चिम को अपने लिए चुनौती जैसा मालूम होता है.

गांधीजी को पश्चिम के अनेक गुण प्रिय थे. उनकी कार्यतत्परता, समय की मूल्य-रक्षा, कुशलता, नागरिक स्वच्छता, साहसिकता और गतिशीलता आदि के लिए उनके मन में बहुत मान था

ऐसा कहते हैं कि गांधीजी इतने आध्यात्मिक थे, महात्मा थे कि मनुष्य व जगत् की वास्तविकता का उन्हें ठीक दर्शन न हुआ. मशीनों के प्रति उनका रुख भावात्मक रहा. काल-विकास के साथ जो पेचीदगियां जीवन व समाज में पैदा होती हैं, उन्हें उनका आभास न हो पाया. इसलिए जो समाधान उन्होंने दिए वे वास्तविक जटिलता के मुकाबले बेहद सरल व कमजोर प्रतीत होते हैं.

यहां यह बात ध्यान में रखने जैसी है कि गांधीजी की सारी जिंदगी व्यापकतम जनसंपर्क के बीच बीती. समाज व जन से अलग-थलग रहने का अवकाश ही उन्हें नहीं मिला. वे प्रचंड कर्म के पुरुष थे और लोक-नेतृत्व के दायित्व से उन्हें कभी छुटकारा नहीं मिला. राजनीति के शीर्ष पर पहुंचने और जीवन भर वहां बने रहने के लिए भावना-मात्र से काम नहीं चलता है. विभिन्न और परस्पर विरोधी हितों और स्वार्थों के बीच संधि और सामंजस्य साधने में कितनी तीक्ष्ण और निःस्पृह बुद्धि-शक्ति की आवश्यकता हुई होगी, इसकी कल्पना से ही मन विस्मय से भर उठता है.

अपने रचनात्मक कार्यों के लिए जो विभिन्न संगठन उन्होंने खड़े किए उनमें गणित का पूरा उपयोग न हुआ होता, तो वे कार्यकारी हो नहीं सकते थे. धर्म के प्रत्येक प्रश्न से वे उलझे पर वैज्ञानिक दृष्टि से कभी विमुख नहीं हुए. गौ-संरक्षण के जो उपाय उन्होंने सुझाए और अमल में लाए, परंपरागत गौ-भक्त उससे चौंके बिना न रह सके. वे प्रत्येक क्षण जागरूक रहे. अपने अंतरंग के प्रति ही नहीं, वस्तुस्थिति के प्रति भी उनकी सतत सावधानी उन्हें किसी व्यवसायी या वैज्ञानिक से कम नहीं पाती है.

साध्य व साधन के प्रश्न पर गांधीजी इतने दृढ़ नहीं होते तो, राजनीतिज्ञों

के लिए उन्हें किनारे कर देना संभव हो जाता. उनके लिए यह असंभव हुआ तो इसी कारण कि एक तरफ उनमें आदर्श-श्रद्धा भरपूर थी, तो बुद्धि-साध्य व्यवहार-पटुता भी कम नहीं थी अर्थात् विज्ञान और उद्योग की प्रगति में जो भी हितकर और स्थायी तत्व थे, उन्हें गांधीजी ने संपूर्ण भाव से अपनाया, आत्मसात किया. किंतु मानव-मन के भीतर बैठी स्वार्थ-वृति से पैदा जो विकार सारी दुनिया को विकारमय बनाता जा रहा है, उसके प्रति गांधीजी सतत प्रबल चुनौती और निषेध बने रहे.

मानवजाति की सच्ची एकता के लिए गांधीजी ने विकेंद्रित व्यवस्था की कल्पना की. भारी भूल होगी अगर हम समझेंगे कि उस विकेंद्रीकरण से मानव-समाज बिखरेगा, एकत्रित नहीं होगा. उनका सच यह है कि मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा के बिना मानव-एकता साध्य ही नहीं है. राष्ट्रीय हित को मानवता से दूर, किन्हीं कृत्रिम मूल्यों पर केंद्रित करने से मानव दुर्बल होता और द्रव्य (सिक्का) प्रबल हो जाता है. हाथ से मेहनत करने वाला भूखा रह जाता है, और कलम से हुक्म देने वाले के कब्जे में उसकी गरदन आ जाती है. ऐसे कृत्रिम मूल्यों के आधार पर चलनेवाली व्यवस्था युद्ध से कभी छूट नहीं सकती. देखने में चाहे लगे कि स्वावलंबन की धारणा के आधार पर खड़ी समाज-व्यवस्था ग्राम-ग्राम छितरी हुई होगी और आगे जाने के बजाय यह पीछे लौटने वाला कदम होगा, पर तनिक गहराई से सोचने पर प्रत्यक्ष हो जाएगा कि जो अर्थ-व्यवस्था अपने पड़ोसियों को अनिवार्यतया गैर बना देती है, वह कल्याणकारी नहीं हो सकती है. सुविधा के नाम पर हमने कागज के नक्शों पर लकीरें खींचकर देश-विदेश बना रखा है, उन सबमें इंसान रहते हैं. यह विभाजन बढ़ते वैज्ञानिक ज्ञान और घनिष्ठ अंतरराष्ट्रीय संबंधों के साथ चल नहीं सकता है.

विज्ञान और उद्योग की प्रगति में जो भी हितकर और स्थायी तत्व थे, उन्हें गांधीजी ने संपूर्ण भाव से अपनाया, आत्मसात किया. किंतु मानव-मन के भीतर बैठी स्वार्थ-वृति से पैदा जो विकार सारी दुनिया को विकारमय बनाता जा रहा है, उसके प्रति गांधीजी सतत प्रबल चुनौती और निषेध बने रहे

इस द्वंद्वात्मक जगत में गांधीजी ने अखंड ऐक्य की विधि बतलाई. हम अध्यात्मवाद से परिचित थे और भौतिकवाद से भी. व्यक्ति की स्वतंत्रता को मान देने वाला पूंजीवाद और समाज की सत्ता को महत्व देने वाला समाजवाद, दोनों हमने देखा था. दोनों पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में सामने खड़े दिखते थे. गांधीजी इनके बीच

समग्र और निःखंड मानव रूप में आविर्भूत हुए. उनसे जगत ने समग्र मनुष्य को देखा, और यह भी समझा कि जीवन में खाने नहीं हैं. अगर तटों में दो-पन दीखता है, तो जीवन की धारा वही है जो दोनों को छूती और मिलाती हुई बहती है. व्यक्ति और समाज दो नहीं हैं; न व्यक्ति और विश्व दो हैं. धर्म भी उससे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है. इसलिए समाज, देश या विश्व को बनाने के लिए अपने बुनियादी संस्कारों के बारे में असावधान नहीं रहना होगा. साध्य की सिद्धि के लिए तदनुकूल साधन हमें बनना होगा. सच्चाई और पवित्रता व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक मूल्य हैं. व्यक्ति के पास जो सीमित स्वरूप में है नास्तिकता, उसे असीम में होम कर दिया जाए. इस तरह मृत्यु का भय नहीं रह जाता है. भय नास्तिकता है. यदि व्यक्ति हमेशा निडर और स्नेह से भरा रहे, तो उसके आचरण से समाज का और सबका सच्चा भला होगा.

गांधीजी ने बताया कि जो निष्क्रिय है वह सज्जनता सच्ची भी नहीं है, और सही भी नहीं है. वह इंसान भला ही क्या जो भलाई के लिए मरने से डरता है?

मानसिक और वैचारिक क्षेत्र में जो द्वंद्व और विग्रह हमें परेशान करता रहता है, जीवन की इस समग्र योजना में वह कट जाता है. भौतिक दर्शन और आध्यात्मिक दर्शन हमें मूल प्रश्नों से दूर ले जाते हैं. वे अपने खंडित दर्शन में खो जाते हैं. दलों और व्यक्तियों की समग्र शक्ति इन बौद्धिक विवाद-विग्रहों में व्यय होती रहती है, गांधीजी के रास्ते वह बच जाती है.

एक महाप्रश्न सबको परेशान करता हैः प्रहार हो तो प्रतिकार क्या हो? प्रहार न करने का धर्म सब जानते हैं. सज्जन उसका पालन भी सहजता से करते हैं. पर बुराई का स्वभाव ही है कि वह कभी निष्क्रिय नहीं होती है. बुराई की सक्रियता के उत्तर में जो सज्जनता निष्क्रिय रहती है, दुनिया उससे परिचित है. दुनिया देखती हैं कि उससे काम नहीं चलता है. गांधीजी ने बताया कि जो निष्क्रिय है वह सज्जनता सच्ची भी नहीं है, और सही भी नहीं है.

गांधीजी की यह देन क्रांतिकारी है. दुर्जनता के लिए समाज का कोई क्षेत्र निष्कंटक न रह जाए, इसलिए सज्जनता को सर्वव्यापी होना चाहिए. दुर्जनता के लिए सज्जनता जिम्मेदार है. हम क्या करें; हमारा क्या दोष है जैसा कहने का हक भी गांधीजी ने जैसे हर संत और हर सज्जन से छीन लिया. उन्होंने बतलाया कि भलों का सहारा न हो तो बुराई जी ही न सके. इसलिए जरूरी है कि भले लोग बलिदान का धर्म सीखें. वह इंसान भला ही क्या जो भलाई के लिए मरने से डरता है? बुराई में ताकत एक भ्रम है. वह ताकत हमारे मोह और डर में से बनती है. जो सज्जनता इस तरह बुरे से और बुराई से किनारा ले लेती है, वह बुराई को आधार

देती और उसे बढ़ने में सहारा बनती है. तब बुराई के प्रहार से बचने के लिए भलाई जो साधन खड़े करती है, भले लोग खुद उस बुराई के हाथ के खिलौने बन जाते हैं. इसलिए हिंसा से हिंसा को काटने की कोशिश निष्फल होती है. फिर भी वही चलती जाती है. नागरिक पैसा देकर फौज पालता है कि वह उसे सुरक्षित रखे. फलतः नकली सुरक्षा के साधन-रूप संहारक अस्त्र-शस्त्र बढ़ते हैं, बढ़ते ही जाते हैं लेकिन असुरक्षा का भाव खत्म नहीं होता है. फिर हम स्वयं हर संकट सहकर भी पुलिस-फौज को सब तरह की सुख-सुविधा पहुंचाते रहना जरूरी समझने लगते हैं. किसी कल्याणकारी राज के पास सिवा इसके कोई उपाय भी नहीं बचता है कि फौजी खर्च को प्राथमिकता दी जाए और सैनिक नागरिक से ऊपर माने जाएं.

यह प्रयोग इतिहास में अब तक नहीं हो पाया कि सेना अनावश्यक सिद्ध हो जाए. क्या यह सच नहीं है कि दरअसल नागरिक ही सैनिक है? गांधीजी सैनिकों के गुणों को महत्वपूर्ण मानते थे. वे चाहते थे कि हर नागरिक में उन गुणों का विकास हो. दूसरी ओर वे यह देखते थे कि पेशेवर सैनिक में सही नागरिकता का उदय नहीं होता है. इसलिए सैन्यवाद के विकास में गांधीजी समाज की हानि देखते थे-हानि ही नहीं, एक भारी खतरा भी.

अच्छी, बड़ी, अनुशासित, सुसज्जित सेना के बिना कोई देश अपनी स्वतंत्रता कैसे कायम रख सकता है, यह किसी को स्पष्ट नहीं है. इतिहास में इसका उदाहरण भी नहीं है. इसलिए गांधीजी की इस दृष्टि को हम कपोल कल्पना मानते हैं. लेकिन आज विज्ञान के योग से अस्त्र-शस्त्रों ने जो भीषणता प्राप्त कर ली है, उससे यह अनिवार्य हो उठा है कि सेना के विकल्प की दिशा में जल्दी-से-जल्दी कोई कारगर प्रयोग हो. यदि हम विचारपूर्वक ऐसे प्रयोग नहीं करते हैं तो मानव-जाति के अस्तित्व को प्रत्यक्ष खतरा है.

यह काम ऊपर से नहीं होगा. फल बीज से उलटा नहीं हो सकता है. यह प्रयोग नींव से आरंभ होना चाहिए. राज्य पर तो रक्षक की ज़िम्मेदारी है. इसलिए उसके लिए ऐसा प्रयोग करना संभव नहीं है. जन-मानस से आगे जाना न किसी राज्य के वश का है, न उसके हक का है. लोक-मानस की शिक्षा और लोककर्म की दीक्षा से ही इस अनुष्ठान का आरंभ होना है.

गांधीजी विश्व-संस्कृति के इस विकट संकट के ठीक बीच, अपने जीवन और मरण से उस अनुष्ठान का आरंभ कर गए हैं. निश्चय ही वे दृढ़ आशा लेकर गए हैं कि उनकी कर्मभूमि और प्रयोगभूमि बनने वाला यह भारत वर्ष वह देश होगा जो उस प्रारंभ को फलश्रुति तक पहुंचाएगा. वह एक दिन पदार्थ-पाठ द्वारा प्रत्यक्ष दिखा सकेगा कि सुरक्षा का विधान और उपाय सज्जनोचित भी है और अमोघतर भी.

● **वरिष्ठ साहित्यकार व चिंतक जैनेंद्र कुमार की पुस्तक 'अकाल पुरुष गांधी' से साभार.**

विकल्प

युद्ध के बिना

० शेखर गुप्ता

संसदीय लोकतंत्र दूसरा कुछ कर पाया हो कि नहीं, उसने इतना तो किया ही है कि युद्ध या जातीय खूरेंजी की जगह, शांति से परिवर्तन संभव बना दिया है. हम उस उपमहाद्वीप में रहते हैं जहां वोट की ताकत से सत्ता बनती व बिगड़ती है. हमें इसकी कीमत समझनी चाहिए और इसे संभाल कर रखना चाहिए

चाहे हम कितनी भी कोशिश कर लें, हमें पूरी दुनिया में कहीं भी एक-दूसरे से जुड़ा ऐसा क्षेत्र नहीं मिल सकता जहां 2 अरब लोग चुनाव में मतदान करते हों और लोकतंत्र को महत्व देते हों. ऐसा क्षेत्र न अमरीकी महादेश में मिलेगा, न अफ्रीकी महादेश में. यूरोप की आबादी इतनी बड़ी तो नहीं है, और पूर्वी एशिया की आबादी में 1.4 अरब चीनी आबादी का वर्चस्व है.

यही तो भारतीय उपमहादेश को खास बनाता है. मालदीव से लेकर श्रीलंका, भारत, नेपाल, बांग्लादेश और भूटान—इस उपमहादेश के इन सभी देशों में नियमित चुनाव होते हैं. हरेक देश का लोकतंत्र बेशक अलग-अलग तरह का है. जैसे पाकिस्तान के लोकतंत्र को हम सबसे निचले पायदान पर मानकर ऊपर भारत तक आ सकते हैं हालांकि यह कहने का अर्थ यह नहीं है कि भारत का लोकतंत्र सर्वगुणसंपन्न है.

लोकतंत्र की 'रेटिंग' करना जोखिम भरा काम है. मैं केवल इसी सीधी-सी कसौटी को लागू करता हूं—कहां सबसे शांतिपूर्वक तथा सामान्य ढंग से राजनीतिक सत्ता का निरंतरता के साथ बदलाव होता रहा है? 19 महीने की इमर्जेंसी के अपवाद को छोड़ दें, तो कहा जा सकता है भारत इस कसौटी पर

सबसे ज्यादा बार खरा उतरा है.

पाकिस्तान को हम इस पैमाने पर सबसे नीचे इसलिए रखते हैं, क्योंकि उसे चुनाव कराने की सुध ही अपने गठन के 25 साल बाद आई. इसके अलावा, उसका कोई भी निर्वाचित प्रधानमंत्री अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पाया. उसकी सेना का वहां हमेशा वर्चस्व रहा है. उसने अपने लिए खास तरह की मिश्रित व्यवस्था का आविष्कार कर लिया है जिसमें लंबी अवधि तक फौजी निजाम रहता है. जनरल परवजे मुशर्रफ के हाथों में 1999 से 2008 तक उसकी बागडोर रही. फिर भी लोग मतदान करते रहे.

दूसरी तरफ छोटी-सी, बेहद मजबूत राजशाही वाला हिमालयी देश भूटान है जहां के सम्राट इतने दूरदर्शी हैं कि चुनाव नियमित करवाते हैं और निर्वाचित प्रधानमंत्री तथा उसके मंत्रिमंडल को सत्ता सौंपते रहते हैं. बांग्लादेश, नेपाल, श्रीलंका और मालदीव में भी चुनाव होते रहते हैं और सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तांतरण होता रहा है. कहीं भी सेना का खौफ नहीं रहा है. तीन दशकों से बांग्लादेश में भी यह खौफ नहीं रहा हालांकि वहां भी दो बार फौजी तानाशाही राज कर चुकी है.

इसका मतलब यह हुआ कि भौगोलिक रूप से एक क्षेत्र में सिमटे उपमहादेश में बसी दुनिया की एक चौथाई आबादी निर्वाचित लोकतंत्र के प्रति मजबूती से प्रतिबद्ध है. पाकिस्तान को छोड़, इन सभी देशों में सेना चुनावों तथा सत्ता हस्तांतरण को मजबूती देने में सहायक होती रही है—तब भी, जब स्थापित सरकार को उग्र विरोध-प्रदर्शन ने नाटकीय रूप से सत्ता से बाहर कर दिया था.

भौगोलिक रूप से एक क्षेत्र में सिमटे उपमहादेश में बसी दुनिया की एक चौथाई आबादी निर्वाचित लोकतंत्र के प्रति मजबूती से प्रतिबद्ध है

श्रीलंका के महिंदा राजपक्षे की सत्ता गई, फिर बांग्लादेश की शेख हसीना की सत्ता गई, और फिर नेपाल के खड़्ग प्रसाद शर्मा ओली गए. 'अरब स्प्रिंग' आंदोलन की बराबरी करने वाले विरोध-प्रदर्शनों के कारण इन तीन देशों में तख्तापलट तो हुआ, लेकिन ये अराजकता की गिरफ्त में नहीं फंसे. वे फिर उठ खड़े हुए, शांतिपूर्ण चुनाव करवाए और लोकप्रिय नेताओं को बहुमत से सत्ता सौंपी.

इनमें से दो, श्रीलंका और नेपाल ने तो इस प्रक्रिया में नई राजनीतिक पार्टी की भी खोज कर डाली. 'सिस्टम' के खिलाफ गुस्सा था, जो स्थापित राजनीतिक दलों के खिलाफ उग्र विरोध में तब्दील हो गया : 'सब एक जैसे हैं, एक जैसे बुरे,

मिलीभगत वाले'! लेकिन इसकी प्रतिक्रिया में कोई गैर-संवैधानिक ताकत या नया संविधान नहीं, बल्कि एक नया राजनीतिक दल उभरा.

सबसे ताजा उदाहरण नेपाल है. 2025 के दो नाटकीय दिनों, 8-9 सितंबर के भीतर ही ओली की सरकार गिर गई. अटकलें लगाई जाने लगीं कि अब सेना क्या करेगी? लेकिन सेना ने कुछ नहीं किया. उसने इतना किया कि व्यवस्था बनाए रखी ताकि सम्मानित मुख्य न्यायाधीश (नेपाल की प्रथम महिला मुख्य न्यायाधीश) सुशीला कार्की के नेतृत्व में एक अंतरिम सरकार सत्ता संभाल लें, जिसका एकमात्र एजेंडा यथाशीघ्र शांतिपूर्ण और निष्पक्ष चुनाव करवाना हो. कार्की ने छह महीने के अंदर सभी दलों को स्वतंत्र चुनाव लड़ने का मौका उपलब्ध करा दिया. चुनाव नतीजों ने उन सबको नाटकीय रूप से खारिज कर दिया जिन्होंने 2008 में राजशाही की जगह लोकतंत्र की स्थापना और एक गणतांत्रिक संविधान को लागू किए जाने के बाद नेपाल को 14 प्रधानमंत्री दिए थे. इसने माओवादी सत्ता का भी समापन कर दिया. अब वे प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुने गए 165 सदस्यों वाले सदन में 10% फीसदी भी नहीं रह गए हैं.

अब वहां के नये नेता हैं मात्र 35 की उम्र के बालेन शाह जो पहले कभी राजनीति में नहीं रहे. बेलगावी की विश्वेसरैया टेक्नोलॉजिकल यूनिवर्सिटी (वीटीयू) से स्ट्रक्चरल इंजीनियरिंग में एकटेक कर चुके बालेन शाह महज एक रैपर थे, जो भ्रष्टाचार, कुशासन, लोगों के पलायन और जीवन-स्तर के खिलाफ लोगों के आक्रोश को आवाज देने वाले अपने गानों के बूते भारी लोकप्रिय हस्ती बन गए. वे जिस राष्ट्रीय स्वतंत्र पार्टी में शामिल हुए उसकी स्थापना पत्रकार रबि लमिछने ने 2022 में की थी. इस पार्टी ने दो तिहाई बहुमत से एक सीट कम जीती है. फिलहाल वह वादमुक्त दिखती है और खुद को मध्यमार्गी कहती है.

कहानी का सार यह है कि एशिया के इस क्षेत्र में संविधान, लोकतांत्रिक प्रक्रिया में विश्वास पक्का है, और सुप्रीम कोर्ट से लेकर राष्ट्रपति, चुनाव आयोग और सेना जैसी सभी संस्थाओं ने अपनी हस्ती और गरिमा बनाए रखी है.

इस उपमहादेश के तमाम देशों में जबकि लोकतंत्र परिपक्व तथा मजबूत हुआ है, तब पाकिस्तान क्यों लड़खड़ा गया है? मेरे विचार से इसका जवाब इस बात में निहित है कि इन सभी देशों ने जहां राष्ट्र की समन्वित कल्पना की, पाकिस्तान अपवाद बना हुआ है जो अभी भी द्विराष्ट्र—सिद्धांत को उचित ठहराने की जद्दोजहद में जुटा है. उसके इसी जुनून ने सेना को छोड़ किसी और संस्था को वहां अपना नैतिक कद बढ़ाने की इजाजत नहीं दी.

*

बदलाव

भाषा बदल रही है!

० प्रमोद रंजन

हमारे विश्वविद्यालयों में हिंदी साहित्य की कक्षाओं की अपनी ही टिपिकल संस्कृति होती है – चरणस्पर्शी और बहुत छुईमुई! इन कक्षाओं में प्रेमचंद, प्रेमचंद नहीं रहते, 'प्रेमचंदजी' हो जाते हैं, फिर 'निरालाजी', 'मुक्तिबोधजी'; नामवर सिंह नहीं, 'प्रोफेसर नामवर सिंह'. रामचंद्र शुक्ल या तो 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल' के नाम से पुकारे जाते हैं या 'शुक्लजी'. सिर्फ कक्षाओं ही नहीं, हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रमों में शामिल आलोचना-पुस्तकों का भी यही हाल है.

ऐसे में हिंदी साहित्य के कोई प्रोफेसरजी अपने बनाए किसी व्हाट्सएप ग्रुप में जब कोई सामग्री डालते हैं और उनके विद्यार्थी उसके उत्तर में एक भी शब्द नहीं लिखते हैं, सिर्फ थंब का इमोजी (👍) भेजते हैं, तो इन गुरूजी लोगों को कैसा महसूस होता है? मुझे नहीं लगता वे अच्छा महसूस करते होंगे. लेकिन उन्हें समझना चाहिए कि व्हाट्सएप ग्रुप में जब किसी लंबी सूचना के नीचे सिर्फ थंब का एक इमोजी दिखाई देता है, तो वह असम्मान नहीं है. यह हमारी नई पीढ़ी की भाषा है. इसमें सम्मान और असम्मान के बीच इतना फासला नहीं है जितना कभी हुआ करता था.

इसे समतामूलक भाषा की दिशा में एक संकेत की तरह देखा जा सकता है. अधिकांश गुरूजी तो शायद 'थंब इमोजी' का मतलब भी नहीं जानते होंगे.

नई पीढ़ी थंब इमोजी का इस्तेमाल सामान्यतः इन अर्थों में करती हैः ''ठीक है... समझ गया... सहमति है... अच्छा है... मिल गया या मेरा समर्थन है. सीधा मतलब यह कि सामने वाले ने आपकी बात पढ़ भी ली है और उसे कबूल भी कर लिया है. लेकिन गुरूजी को लगता है कि यह तो भयानक बदतमीजी है : चेले की यह औकात कि वह मुझे अंगूठा दिखाए!

संवाद का रूप बदल रहा है – और उसकी संरचना भी. धन्यवाद, बहुत

अच्छा जैसे वाक्य शब्द में बदले, शब्द संकेत में बदला. यह मात्र संक्षेप नहीं है, यह भाषा के सामाजिक व्यवहार में बदलाव है. प्रश्न यह नहीं कि भाषा छोटी हो रही है बल्कि प्रश्न यह है कि यह अच्छा हो रहा है या बुरा? भाषा बहता नीर है. कभी पत्र चार-चार पन्नों के होते थे. फिर ईमेल आए, तो पत्र दो पैराग्राफ के हो गए. अब संदेश दो पंक्तियों के हैं, तो कई बार बस एक इमोजी! हिंदी भाषा जाति, धर्म, लिंग और उम्र संबंधी अनेक पूर्वग्रहों से ग्रसित है. इसलिए इमोजी का हमारी हिंदी में स्वागत है.

हम अभी भी विस्तार को विद्वता का प्रमाण मानते हैं.

भारी-भरकम, विस्तृत ब्योरे वाले उपन्यास, ऐसे लेख जिनमें उद्धरणों की अधिकता तर्क, मौलिकता और विवेक की जगह ले लेती है. यह सब नई पीढ़ी को आकर्षित नहीं करता है. हम समझते हैं कि उद्धरण ही प्रमाण हैं, विस्तार ही विद्वता है. नई पीढ़ी इससे सहमत नहीं है. उसे तर्क चाहिए, मौलिकता और सार चाहिए.

यह हमारी नई पीढ़ी की भाषा है. इसमें सम्मान और असम्मान के बीच इतना फासला नहीं है जितना कभी हुआ करता था

इसे सिर्फ अधैर्य कह देना आसान है. लेकिन मैं कहूंगा कि यह अच्छा है कि अब कथ्य को संरचना से, और विचार को प्रस्तुति से अलग करके देखा-परखा जाएगा. इससे विद्वता के नाम पर फैला खर-पतवार नष्ट होगा.

ऐसा नहीं है कि नई पीढ़ी गहराई नहीं चाहती है. दरअसल वह गहराई को दूसरे रूप में खोज रही है.

हिंदी साहित्य की एक कक्षा में पूछने पर विद्यार्थियों ने मुझे बताया कि उन्होंने अपने जीवन में बहुत कम फिल्में पूरी देखी हैं. वे फिल्में या तो अधूरी देखते हैं या उसे फास्ट-फारवर्ड करके जल्दी खत्म कर देते हैं. वे रिल्स देखते हैं- 30 सेकेंड या 60 सेकेंड. बहुत अधिक देखी तो 5-7 मिनट की शॉर्ट फिल्म देख ली. और सचमुच कई शार्ट फिल्में कमाल की हैं. मसाला फिल्में भी अब तो छोटी होती जा रही हैं. देखने की आदत बदली है; पढ़ने की भी बदलेगी.

*

झरोखा

साहित्य का सच

० अज्ञेय

यह सच है कि मनुष्य साहित्य का पाठक है लेकिन यह भी उतना ही सच है कि मनुष्य साहित्य का सर्जक है. लेकिन बात इतने से भी पूरी नहीं होती है, क्योंकि मनुष्य जिस साहित्य का सर्जन करता है वही साहित्य मनुष्य को भी और उसके समाज को भी बदलता व उन्नत करता है. क्या है लिखना-बनाना-बदलना?

साहित्य से भी बदलाव आता है, लेकिन साथ ही वह बदलाव किस क्षेत्र में आता है, कहां तक नियोजित हो सकता है और कहां पूर्वानुमेय से परे चला जाता है? मैं सिद्धांत अथवा स्थापना के रूप में यह बात कह सकता हूं कि सर्जनात्मक साहित्य द्वारा आनेवाले परिवर्तन संवेदन के परिवर्तन होते हैं; व्यवस्था के नहीं; व्यवस्थाओं में अंतर्निहित मूल्यदृष्टि के भी नहीं, बल्कि मूल्यदृष्टि की भी आधार-भित्ति के परिवर्तन! यह आधार-भित्ति मानव की सर्जनात्मक प्रतिभा है, इसलिए वह बराबर पूर्वानुमेयता की सीमा से परे जाती रहती है. साहित्य समाज को और संस्कृति को बदलता है तो इसलिए कि वह नए और अपूर्व-कल्पिक जीवन का उन्मेष और आविष्कार भी है. यह नहीं कि वह यथार्थ को या वास्तविकता को कहीं नकारता या अनदेखा करता है; यहीं कि सर्जना कर्म के दौरान ये बदल गए होते हैं.

आधुनिक हिंदी साहित्य की परंपरा अथवा उसका परिदृश इतना लंबा नहीं है कि कुछ बातों की परीक्षा हम उसी की सीमा के भीतर रहते हुए न कर सकें. लेकिन यह बिलकुल जरूरी नहीं है—उचित भी नहीं है—कि हम अपने को उसी सीमा से बांध कर रखें.

भक्ति साहित्य और संत साहित्य को ही लीजिए. उन्हें ये नाम ही दिए गए तो इसीलिए कि इनमें आस्था का स्वर प्रबल रहा, सनातन मूल्यों का इनका आग्रह रहा. सनातन मूल्यों का आग्रह, भगवन्निष्ठा, आस्था और भक्ति-कहा जा सकता है कि ये सभी स्थितिशील आग्रह हैं. समाज को बदलने से इनका कोई संबंध नहीं है, बल्कि बदलते हुए समाज के बीच इन्हीं तत्त्वों पर बल देना इन्हें अभीष्ट है जो बदलते नहीं. तब फिर संतों और भक्तों के साहित्य ने कैसे अपने युग में और अपने समाज में एक क्रांतिकारी भूमिका निबाही? और अगर हम कहें कि ऐसा इसलिए हुआ कि ये शोषित और उत्पीड़ित की भावनाओं और उसकी मूल्यदृष्टि के साथ जुड़े, तो क्या हम यह कह रहे हैं कि शोषित और उत्पीड़ित की मूल्यदृष्टि, उसकी आस्था और उसकी भगवन्निष्ठा, उसके सारे आग्रह स्थितिशीलता के आग्रह हैं? निःसंदेह स्थिति इतनी सरल नहीं है और ऐसा कोई सीधा समीकरण नहीं बन सकता. संतों और भक्तों के क्रांतिकारी प्रभाव को समझने के लिए हमें स्थूल परिस्थितियों का और भावना जगत का विचार अलग-अलग भी करना होगा और फिर भावना जगत की अंतःप्रेरणाओं का विश्लेषण भी अलग से करना होगा. निःसंदेह ये भावनाएं फिर सामाजिक परिस्थितियों से भी जुड़ेगी, लेकिन अगर सही विश्लेषण हुआ होगा तो स्थितिशीलता की परिभाषा भी बदल चुकी होगी और साहित्य के प्रभाव के भी पहचान लिया गया होगा.

कबीर अपने को क्रांतिकारी या समाज–सुधारक के रूप में नहीं देखते थे, यद्यपि सत्य का आग्रह उनका बराबर रहा. मोटे तौर पर यह बात सभी संत और भक्त कवियों के बारे में कहीं जा सकती है

यह तो एक सर्वमान्य बात को दोहराना ही होगा कि कबीर अपने को न संत मानते थे, न कवि. इससे आगे यह भी कहा जा सकता है—यद्यपि हो सकता है यह बात वैसी सर्वसम्मत न हो—कि कबीर अपने को क्रांतिकारी या समाज—सुधारक के रूप में नहीं देखते थे, यद्यपि सत्य का आग्रह उनका बराबर रहा. मोटे तौर पर यह बात सभी संत और भक्त कवियों के बारे में कही जा सकती है कि वे अपने को कवि न समझते हुए, केवल साधक ही मानते थे. लेकिन कबीर के बारे में यह अपेक्षया अधिक सच है. साधक होने के नाते और सत्याग्रही होने के नाते उनकी उक्तियों का ऐसा भी प्रभाव भले ही रहा हो जो समाज को बदलने वाला हो और भले ही उन्हें इस बात का बोध भी रहा हो कि उनकी उक्तियां जगह-जगह समाज को चुनौती दे रही हैं, यह कहा जा सकता है कि ऐसा उनका लक्ष्य नहीं था बल्कि यह उनके जीवन और उनकी साखियों के आनुषंगिक परिणाम थे.

लेकिन हमारे लिए जो बात और भी अधिक महत्त्व की है वह यह कि 17वीं शती से लेकर 20वीं शती तक कबीर की उक्तियों—उनकी साखियों, रमैनियों, शब्दों और पदों—को साहित्य नहीं माना गया था. वह सुरक्षित भी रहा तो लोक-साधारण की वाणी में, जहां वह एक सहज-शस्त्र-निर्देश का काम करता था, अथवा कबीरपंथी की भगताही परंपरा में, जहां वह उसी प्रकार सांप्रदायिक धर्मोपदेश का काम करता था—और यह कोई नहीं कह सकता कि ये संप्रदाय क्रांतिकारी संप्रदाय थे अथवा समाज को बदलने की भावना से प्रेरित थे.

यह कहना भी अनुचित न होगा कि हिंदी भाषी समाज में कबीर की रचनाओं को सर्जनात्मक साहित्य की कोटि में रखकर, उसका विचार करने की कल्पना 20वीं शती के तीसरे दशक से पहले नहीं की गई थी, बल्कि उसके बाद भी कम-से-कम एक दशक तक विश्वविद्यालयी क्षेत्रों में कबीर को साहित्य के उच्चतर अध्ययन का विषय बनाने के प्रति प्रबल विरोध का ही भाव था. कबीर की सामाजिक प्रतिष्ठा में कहां तक रवींद्रनाथ ठाकुर द्वारा किए गए कल्पनाशील अनुवादों का अथवा क्षितिमोहन सेन जैसे आचार्यों द्वारा किए गए अध्ययन का योगदान था, इस पर बहस हो सकती है. लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर का कवि अथवा साहित्यस्रष्टा के रूप में विचार वर्तमान शती की दूसरी चौथाई से ही आरंभ हुआ.

कबीर की रचनाएं विचारों में हेतुवाद का और सामाजिक आचरण में पाखंड का जोरदार खंडन करती हैं. तार्किक हेतुवाद का खंडन सनातन मूल्यों और आस्थाओं पर बल देता है. अतः उसे किसी प्रकार भी क्रांतिकारी मानने के लिए क्रांति की परिभाषा को इतनी दूर तक खींचना होगा कि फिर उसमें पुराणपंथी प्रवृत्तियां भी सम्मिलित हो जाएंगी. कबीर की क्रांतिकारिता की चर्चा सामाजिक आचरण में पाखंड के विरोध को लेकर ही हो सकती है. वह विरोध पैना था, प्रबल था, प्रभावशाली भी हुआ, लेकिन इस गुण के बावजूद 300 वर्षों तक कबीर को साहित्यकार अथवा कवि की कोटि में नहीं रखा जाता रहा, क्योंकि यह गुण काव्य गुण माना ही नहीं जाता था, यह कर्म कवि-कर्म में शामिल नहीं किया जाता था.

कबीर की रचनाएं विचारों में हेतुवाद का और सामाजिक आचरण में पाखंड का जोरदार खंडन करती हैं. तार्किक हेतुवाद का खंडन सनातन मूल्यों और आस्थाओं पर बल देता है

हम यह तो मान सकते हैं कि 300 वर्ष तक साहित्य की परख करनेवाला समाज अंधेरे में था या गलती पर था, लेकिन यह मान लेने पर भी यह सवाल

तो ज्यों-का-त्यों बना रहता है कि क्या साहित्यकार चेतन अथवा नियोजित रूप से समाज को बदलने का अभियान अपने कृति-साहित्य द्वारा चला सकता है? और इससे जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न भी ज्यों-का-त्यों बना रहता है कि अगर साहित्यकार नियोजित ढंग से ऐसा करता भी है, तो कालांतर में होनेवाली प्रभाव वही होते हैं जो उसने लक्ष्य के रूप में अपने सामने रखे थे? यदि प्रभाव उनसे भिन्न होते हैं और कवि के युग में न होकर किसी दूसरे युग में होते हैं जबकि युगीन परिस्थितियां ऐसी होती हैं कि ऐसे विचार क्रियाशील हो उठते हैं जिन्हें हम एक अरसा पुरानी रचनाओं के साथ जोड़ते हैं, यद्यपि बीच के लंबे अंतराल में उन रचनाओं से, उन विचारों का संबंध हमें नहीं दिखता था. अगर विचारों की क्रियाशीलता का संबंध उनसे प्रभावित होनेवाले समाज के संवेदन से ही अधिक है, अगर कोई समाज अपने युगीन संवेदन के कारण किन्हीं रचनाओं में कोई अर्थ पाने लगता है जो उससे पहले की कई पीढ़ियों के समाजों को उसमें नहीं मिला था, तो इसका श्रेय क्या हम कवि की नियोजना को दे सकते हैं? रचना से तो उसका संबंध निर्विवाद है ही, लेकिन रचना से जो अर्थ नए युग में हम पा सकते हैं वह अर्थ उसे हम दे रहे हैं : उसे यह अर्थ देने का सामर्थ्य हमारे युगीन संवेदन और हमारे समूचे संस्कार का परिणाम है. वह अर्थ हम उस रचना से पा रहे हैं, इससे रचना की वह अर्थ देने की क्षमता और शक्ति तो प्रमाणित होती है, लेकिन यह तो सिद्ध नहीं होता कि वह रचनाकार की नियोजनाओं का परिणाम था.

अगर कोई समाज अपने युगीन संवेदन के कारण किन्हीं रचनाओं में कोई अर्थ पाने लगता है जो उससे पहले की कई पीढ़ियों के समाजों को उसमें नहीं मिला था, तो इसका श्रेय क्या हम कवि की नियोजना को दे सकते हैं?

कबीर तो एक उदाहरण है. साहित्य-देशी और विदेशी, हिंदी और हिंदीतर साहित्य-ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जिसे हम कालजित् साहित्य कहते हैं, वह कई बार भुला ही दिया जाता है जो फिर एक नए रूप में अवतरित होता है. उसका अर्थ बदल चुका होता है. और यह नया अर्थ भी अंतिम नहीं होता. यह संभावना बनी रहती है कि फिर किसी परवर्ती युग में, उसमें किसी नए का उन्मेष होगा. यह प्रक्रिया में ग्रहीता वर्ग का योगदान भी असंदिग्ध है, रचना की क्षमता भी असंदिग्ध है. जो चीज संदिग्ध है वह है कवि की सचेत नियोजना. साहित्य के कारण परिवर्तन आते हैं, संवेदन की गहराई बढ़ती है और उसे नया संस्कार मिलता है. लेकिन वह शक्ति साहित्य की है और यह प्रमाण विचार की देश-कला मुक्त

स्वायत्तता का है. इसका श्रेय कवि की नियोजना को नहीं दिया जा सकता—कवि का अनुशासन करना चाहनेवाले काव्यशास्त्री अथवा आलोचक को तो और भी नहीं. कवियों के बारे में ऐसे चुटकले सुनने को मिलते हैं कि अपनी रचना का अर्थ वे स्वयं नहीं जानते हैं, लेकिन यह बात है बिलकुल सच. कुछ ही अर्थ कवि जानते हैं या जान सकते हैं; इनसे अधिक कुछ और अर्थों का तीव्र क्षणस्थाई बोध उन्हें उस आविष्ट अवस्था में ही हो सकता है जो सर्जन-प्रक्रिया की चरमावस्था होती है. ब्राउनिंग ने अपनी एक अत्यंत दुरूह रचना का अर्थ पूछे जाने पर उत्तर दिया थाः "जब मैंने वह लिखी थी तब उसका अर्थ जाननेवाले दो थे—मैं और ईश्वर; अब केवल ईश्वर जानता है!" इसमें एक बड़ा सत्य निहित है. सचमुच, सच्चे काव्य का संपूर्ण अर्थ ईश्वर ही जानता है, और वहीं समय-समय पर खंडार्थ विभिन्न युगों अथवा समाजों पर प्रकट कर दिया करता है. उस युग अथवा उस समाज के काव्य-रसिक अपनी निष्ठा और साधना के बल पर उससे आगे कुछ और अर्थ का भी आविष्कार कर ले सकते हैं. उनका इतिहासकार उनका ब्योरा दूसरे युगों और समाजों के लिए भी छोड़ा जा सकता है.

स्रष्टा को जब कवि कहा गया और फिर कवि को मनीषी के साथ-साथ परिभू और स्वयंभू भी कह दिया गया, तो यहीं पहचानकर कि अर्थवान् शब्द की संभावनाएं अनंत हैं. रूपकार्यों की सिद्धि, सादृश्यों के आधार पर अर्थ-सृष्टि के जो द्वार खोल देती है. उनसे आगे सादृश्यों की पहचान की ही नहीं, रचना की भी अनंत संभावनाएं खुल जाती हैं. हां, उन्हें पहचानने के लिए दृष्टि चाहिए और सर्जन के लिए प्रतिभा तो चाहिए ही. जहां और जिस स्तर पर हम लेखन का उपयोग समाज में परिवर्तन लाने के लिए करते हैं—और निःसंदेह लेखन का उपयोग तो सचेष्ट और नियोजित रूप से समाज में निश्चित और अभीप्सित परिवर्तन लाने के लिए, उसे किसी विशेष दिशा में प्रेरित करने या किसी दूसरी दिशा में विमुख करने के लिए किया ही जा सकता है—वह स्तर सर्जन का नहीं है. कविता की अपेक्षा उपन्यास कुछ अधिक उपयोज्य पाया जाता है. इस बात को यों भी कह सकते हैं कि कविता की अपेक्षा उपन्यास एक अधिक 'सामाजिक' विधा है. और उपन्यास की अपेक्षा नाटक के बारे में यह बात और भी अधिक सच होती है—जिसे फिर यों भी कहा जा सकता है कि नाटक उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधिक 'सामाजिक' विधा है;

साहित्य के कारण परिवर्तन आते हैं, संवेदन की गहराई बढ़ती है और उसे नया संस्कार मिलता है. लेकिन वह शक्ति साहित्य की है और यह प्रमाण विचार की देश-काल मुक्त का है

बल्कि नाटक का वाचित अंग अथवा 'साहित्य' तो उसका केवल एक अंग है; नाटक का विचार जब हम एक समग्र प्रस्तुति के रूप में करते हैं तो वह एक सामाजिक विधा ही नहीं, एक सामूहिक अथवा सहयोगी रचना हो जाता है. इस विशेषता के कारण साहित्य विधाओं में नाट्य विधा निश्चय ही सबसे अधिक उपयोग्य विधा हो जाती है और पूर्वनियोजित सामाजिक प्रभावों के लिए उसका ही उपयोग सबसे अधिक हुआ भी है. यों यहां भी हमें यह पहचानना चाहिए कि मंचित नाटक के भी कुछ बुरे प्रभाव होते हैं, और अच्छे नाटक हमेशा नियोजना से परे, कुछ ऐसे प्रभाव भी रखते हैं जो अपूर्वानुमेय होते हैं. ऐसा भी हुआ है कि नाटककार ने जिस उद्‌देश्य से नाटक लिखा है उससे ठीक उलटा प्रभाव डालकर नाटक स्वयं अपने रचनाकार को भौचक्का कर, छोड़ गया हैं.

ऐसा भी हुआ है कि नाटककार ने जिस उद्‌देश्य से नाटक लिखा है उससे ठीक उलटा प्रभाव डालकर नाटक स्वयं अपने रचनाकार को भौंचक्का कर, छोड़ गया है

नियोजित प्रभाव की अर्हता के संदर्भ में अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि सब साहित्य क्योंकि सर्जना के स्तर तक नहीं पहुंचता है, तो जो उससे कमतर होता है उसे उपयोज्य बनाना चाहिए. यह भी कहा जा सकता है कि जिन साहित्यकारों में उतनी सर्जनात्मक प्रतिभा नहीं है—और यह तो मानना ही होगा कि वैसी प्रतिभावाले साहित्यकार किसी भी युग, किसी भी समय में इने-गिने ही होते हैं, बल्कि जो होते भी हैं उनकी भी सर्जनात्मक प्रतिभा का स्तर हमेशा एक-सा नहीं रहता—ऐसे साहित्यकार अपनी योग्यता और दीक्षा का उपयोग ऐसा साहित्य लिखने में कर सकते हैं जो समाज को बदलने का लक्ष्य रखता हो. ऐसा लेखन कालजित तो क्या, दीर्घजीवी भी नहीं होगा. लेकिन यह तभी होता है जब ऐसे साहित्य के लेखक को हम सर्जक से उन्नीस मान लेते हैं.

कुछ साहित्य समाज को बदलने के काम आ सकता है, लेकिन श्रेष्ठ साहित्य समाज को बदलता नहीं, उसे मुक्त करता है. फिर उस मुक्ति में समाज के लिए—और हां, संस्कृति के लिए, मानव-मात्र के लिए—बदलाव के सब रास्ते खुल जाते हैं.

*

जीवन-सफर

मेरे पथ में न विराम रहा...

० सुंदर लाल बहुगुणा

किसी दूसरे ग्रह से आए नादान लोग कहते हैं कि आजादी हमें भीख में मिली, लेकिन आजादी की पुकार कैसे देश के हर कोने से उठी, और कैसे उसने सारा आकाश छा लिया, यह जानना अपने ही जीवित इतिहास से गुजरने जैसा है. जो तब भी नहीं गुजरे थे और अब भी नहीं गुजर रहे हैं, उन्हें न तो यह आकाश ही मालूम है, न इसे छूने का रोमांच ही! पता नहीं ये लोग किस ग्रह से आए हैं जो कहते हैं कि आजादी हमें भीख से मिली थी. यह किसी एक आदमी की बात नहीं है, देश में पूरी-ही-पूरी एक-जमात है जो ऐसे ही अंधेरे में जीती है लेकिन सांस लेती है आजाद भारत में.आजादी का हमारा आंदोलन दुनिया का सबसे बड़ा जनांदोलन था जिसका राजनीतिक पक्ष ही नहीं था, सामाजिक-आर्थिक-शैक्षणिक-बौद्धिक पक्ष भी उतना ही प्रखर था. देश के हर होने से, रियासतों से लेकर गांव-कस्बों तक से आजादी की पुकार उठी थी और उसने सारे-देश का आसमान छा लिया था. ऐसी ही एक रियासत थी टिहरी और यहां 17 साल का एक किशोर था सुंदर लाल बहुगुणा-वहीं जिन्हें हम सर्वोदय वाले चिपको आंदोलन, पर्यावरण आंदोलन, टिहरी बांध विरोधी आंदोलन व उसके एकाधिक उपवासों के लिए जानते थे. लेकिन वह सुंदरलालजी की अधूरी तस्वीर है. पूरी तस्वीर तो तब बनती है जब हम 1930-31 की टिहरी में पहुंचते हैं आजादी के लिए जहां हम मिलते हैं सत्य प्रसाद

रतूड़ीजी से जो बाल समर की स्थापना करते हैं जिसने आजादी के लिए टिहरी को जगाने व संयोजित करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई. सुंदरलालजी इसी बाल समर से उठे थे और फिर टिहड़ी राज्य प्रजामंडल के प्रधानमंत्री बने थे. 17 साल एक किशोर जब इस नई दुनिया में कदम रखता है तो किन-किन मानसिक-आर्थिक-निजी सवालों से जूझता है और अपना रास्ता बनाता है, उसकी एक छोटी-सी झलक आपको आगे के आलेख में मिलेगी. 'बागी टिहरी' नाम का संकलन 1948 में सुंदरलालजी ने प्रकाशित किया था, जो वक्त के धुंधलके में कहीं छिप गया था. उस अप्राप्य पुस्तिका को फिर से खोज निकाला सुंदरलालजी की बेटी मधु पाठक **ने, जिन्हें इस खोज में** उर्मिला रतूड़ी **तथा** प्रेरणा **का साथ मिला.**

25 मई तक मैं एक पर्चे को छोड़कर लाहौर से बी.ए. की परीक्षा दे चुका था. वे दिन हमेशा याद रहेंगे. अपनी पीड़ा से मैं मुक्त हो चुका था परंतु दुनिया की पीड़ा अब चैन न लेने देती थी. लाहौर में हिंदू-मुस्लिम दंगों की यादें, अपनी आंखों के सामने लाहौर के बाजारों में भड़कते शोले का जोर, पशुओं की तरह चिंघाड़ते, सांप्रदायिकता के नशे में मस्त नर-राक्षसों की कर्कश ध्वनि और उनके शिकारों का आर्तनाद! मैं सिहर उठता हूं. मनुष्य के राक्षसीरूप का नंगा नाच! मार-काट से शांति लाने के सपने देखने वालों के अरमान कभी पूरे भी होंगे? मुझे संदेह है. हां, तो मैं बी. ए. की पूरी परीक्षा न दे सका और 25 मई को टिहरी लौट आया.

यहां आने पर राजनीतिक गुत्थियां अधिक उलझी दिखाई पड़ीं. कई राजनीतिक जुआरी हैं—सफलता की आशा से इधर-उधर पांसे फेंकने में व्यस्त! मैं घबड़ा उठा. मैंने अपने को कतई अलग रखा. पर दर्शक बन कर देखते रहना भी अच्छा नहीं लगता. जो कुछ मुझसे बन पड़ा, मैंने किया. पर राजनीति में अपने को भुला बैठने का कुछ बुरा ही असर हुआ. लोग मुझे राजनीति का खिलाड़ी समझने लगे. मुझे दुख हुआ, आश्चर्य भी हुआ. सबसे अधिक वेदना तो गलतफहमी में पड़े उन साथियों से मिली, जो मुझसे राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय भाग ले कर, कुछ करने की आशा लगाए बैठे थे.

मुझे विद्यार्थी के हृदय और राजनीतिज्ञ के मस्तिष्क में संघर्ष छिड़ा है. मैं कहूंगा—भावना और कर्तव्य के बीच महान संग्राम! कुछ साथी राजनीति को

अध्ययन से अधिक महत्व देते हैं. और वे राजनीति के लिए अध्ययन छोड़ने में कोई हानि नहीं समझते, बल्कि इसे महान त्याग का सर्टिफिकेट मान लेते हैं. मुझमें त्याग की मात्रा इतनी अधिक नहीं है कि मैं राजनीतिक झंझावात के बीच, जीवन के निश्चित कार्यक्रमों को ठोकर मार दूं.

पढ़ाई छोड़ने का प्रश्न आते ही मेरी आंखों के सामने अपने विद्यार्थी-जीवन का वह चित्र आ जाता है जब मैंने एक मजदूर से भी बुरा जीवन बिता कर, अपना अध्ययन जारी रखा है. पढ़ाई का मुझे खास शौक है. उसके लिए मैं सब कुछ सहन कर सकता हूं. मैं दुनिया के ज्ञान का अधिक-से-अधिक रस पीने वाला मतवाला हूं. उसके लिए मुझे इज्जत-आबरू की चिंता भी नहीं.

राजनीति में मैंने खूब दिलचस्पी ली है; और लेता रहूंगा पर उसे मैं राजनीति नहीं कहूंगा. वह तो सेवा की अमिट भावना को कार्यान्वित करने की धुन है, जिसे टिहरी की इस मूक जनता की कंगाली और दुरावस्था ने बचपन में ही मेरे हृदय पर बिठा दिया है.

दुनिया मनुष्य का मोल बाहरी परिस्थितियों से, उसके व्यवहार से नापती है. वह देखती इतना ही है कि इस आदमी में स्वयं को बाहरी परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने की कुशलता है कि नहीं! लेकिन दुनिया की वाहवाही लूटने के लिए अपनी आत्मा की आवाज को भुला बैठने की समझदारी को मैं समझदारी नहीं समझता. मैं जानता था कि लोगों के ताने मिलेंगे लेकिन वो दुख के स्थान पर मुझे सुख पहुंचाएंगे, क्योंकि तब वे मेरे सच्चे रंग देख सकेंगे.

स्वास्थ्य की मेरी समस्या, जैसी-की-तैसी बनी हुई है. इलाज तो रुपए-पैसे वालों के लिए है. तभी तो मैं ईश्वर को कोसता हूं कि क्या बीमारी भी उसने गरीबों के लिए ही बनाई है? जब इलाज रुपए-पैसों के बिना हो ही नहीं सकता है, तब गरीबों को बीमार पड़ना ही क्यों चाहिए? इसी कसौटी पर अपने को रखने से मुझे कुछ सांत्वना मिलती है. यह सोच कर कि आखिर लाखों लोग बिना इलाज के ही रोज इस दुनिया से विदा हो रहे हैं, तो यदि उनमें से एक मैं भी हो जाऊं तो कौन-सा अनर्थ होगा?

● मसूरी, 29 जुलाई 47

भविष्य की खोज

भाईजी का एक पत्र मिला. हमारे यहां प्रत्येक नवयुवक को यही धुन लगी रहती है कि अध्ययन के बाद वह कुछ कमा कर कुनबे का भार हल्का करेगा. दूसरा कुछ सोचा भी क्या जा सकता है जब कंगाली चारों ओर से मुंह बाए खड़ी रहती है? एक नवयुवक, जिससे अपने अलावा कुनबे के भरण-पोषण की भी आशा

रहती है, कुछ न करे तो वह एक बड़ी बात हो जाती है.

भाईजी की मुझसे यह अपेक्षा कि भविष्य में कुछ कमा कर मैं घर की खोई खुशहाली को लौटा लाऊंगा, बेजा नहीं है. एक पढ़े-लिखे युवक पर सबकी कितनी आशाएं रहती हैं! घर के छोटे-छोटे बच्चे भविष्य में उसकी कमाई से सुंदर-सुंदर कपड़े पहनने के सपने देखते हैं, बड़े-बूढ़े उनके बल पर आराम की आस लगाए रहते हैं. इन मीठे सपनों को तोड़ने वाले मुझ जैसे निष्ठुर बहुत ही कम होते हैं, मैं जानता हूं. लेकिन इन अनोखे विचारों के लिए घर वाले यदि आज अपने दिल को कड़ा कर, मुझे खुशी-खुशी देश के लिए दे दें, तो मैं व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयों की कुछ भी परवाह न कर, तेजी से आगे बढ़ूंगा. मेरा दृढ़ विश्वास है कि परिस्थितियों का गुलाम, जोखिम से घबड़ाने वाला आदमी यदि सुखी जीवन के सपने देखता है, तो वह हवाई महल ही बनता है.

अपने भविष्य के संबंध में मैं उनको संकोचवश इतना ही लिख पाया हूं. मेरे जीवन से उन्हें मोह है. जैसे भी हो वे मुझे बढ़ा-चढ़ा देखना चाहते हैं. यदि मैं अपनी धुन की भट्टी में उनके अरमानों को भस्म कर दूंगा, तो उन्हें गहरी चोट पहुंचेगी. सितंबर के अंत तक परीक्षा हो जाएगी.

आजकल की पढ़ाई-लिखाई कड़वी दवाई की तरह है जिसे जीवन में सफलता चाहने वाले हर एक युवक को पीना ही पड़ता है. यह पढ़ाई हमें किसी निश्चित कार्य के लिए तैयार नहीं करती. पढ़ाई के बाद रोटी की समस्या, मां-बाप के अरमानों को पूरा करने का सवाल भूत की तरह खड़ा हो जाता है. मौजूदा पढ़ाई का ढंग कदम-कदम पर युवकों की आशाओं और उनके कुदरती चाव का खून कर, अंत में उन्हें थके सिपाही की तरह जीवन से संघर्ष करने के लिए छोड़ देता है. मैं यह नहीं होने दूंगा. यदि मैं अपने अनुभवों का फायदा न उठा सका, तो मुझसे बड़ा मूर्ख कोई नहीं होगा.

पत्रकारिता की ओर मेरा कुदरती झुकाव है. मुझे विश्वास है कि यदि मैं उसे आगे बढ़ाऊं तो अपने और समाज के लिए हितकर सिद्ध हो सकता हूं. मेरी आत्मा थोपे हुए अनुशासन के विरुद्ध है. मैं स्वतंत्र मस्तिष्क से दूसरे के विचारों को सुनना पसंद करता हूं. यदि सचमुच ही आजादी आने वाली है तो वह आदमी उसकी कीमत ही क्या करेगा यदि उसका दिमाग कुछ सीमाओं में बंधा रहे? यदि मैं किसी पार्टी का सदस्य भी हूं तो इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि मुझे उसकी वेदी पर अपने स्वतंत्र विचारों की आहुति देने के लिए मुझे मजबूर किया जाए. आज की राजनीति का झुकाव उसी ओर है. हर आदमी अपनी अलग ही खिचड़ी पकाए, तो समाज में अराजकता हो जाएगी, पर मैं समझता हूं यह डर शिक्षा द्वारा दूर

किया जा सकता है. यदि हमारे दिमाग की खिड़की खुली हो जिसमें दूसरे विचारों की भी जगह हो तो मुझे अराजकता की आशंका नहीं दिखती.

खैर, भाईजी के पत्र का उत्तर तो मैंने दे ही दिया है. आशा करता हूं कि मेरे जीवन से सहानुभूति रखने के नाते, मेरी बात स्वीकार करने में वे हिचकिचाएंगे नहीं.

● **मसूरी, 8 अगस्त, 47**

विद्यार्थियों का संगठन

टिहरी से एक विद्यार्थी का पत्र आया है. पत्र पढ़ते हुए मुझे अपने शिक्षा-काल में किसी विद्यार्थी संगठन की कमी के कारण आई मुश्किल की याद आ गई है.

विद्यार्थी संगठन का अर्थ अधिकांश विद्यार्थियों की तरह मैं यह नहीं लेता हूं कि वे किसी राजनीतिक दल का औजार बन जाएं. सक्रिय राजनीति में विद्यार्थियों का भाग लेना हानिकारक है. यदि वे अपना एक संगठन बना कर राजनीति करें, तो ऐसा करना अपने भविष्य के प्रति विश्वासघात होगा. मैंने अनुभव किया है कि यदि मैं समय पर संभल न जाता, तो बड़ा ही अनिष्ट होता. मैं इसे किसी विद्यार्थी की बेइज्जती या बदनामी नहीं समझता कि वह राजनीति से अलग-थलग रहता है.

विद्यार्थी-जीवन मस्तिष्क के विकास का समय है. उसके विकास में कोई बाधा पड़ती है, तो अंत में वह अधखिला फल देश के लिए हानिकारक भी सिद्ध हो सकता है. युवकों में आवेश अधिक होता है. लेकिन हमारे सभी काम आवेश के बल पर नहीं होते हैं. हमारे जीवन की साधना तो आवेश को दबा कर, तर्क के बल पर काम करने की है. संसार के सभी बुरी काम आवेश में ही होते हैं. मैं अपने ही जीवन के अनुचित कार्यों पर नजर दौड़ाता हूं तो एक ही नतीजे पर पहुंचता हूं कि वह सब मैंने 'आवेश' में आकर किया था. मैं जानबूझ कर अपना ही उदाहरण दे रहा हूं. दूसरे अपराधियों के उदाहरण भी दे सकता हूं. मैं यह भी समझता हूं कि अपने नाजायज कार्यों के लिए हम जो सजा पाते हैं, उसके लिए हम अकेले ही अपराधी नहीं होते हैं. उसके पीछे एक पूरा संसार होता है. मैं भी दूध की तरह सफेद नहीं हूं. क्रोध मुझे कई बार आता है. कभी-कभी लालच भी मुझे ढक लेता है. मैं मुंह या कर्म से उसे प्रकट न करूं, तो इसका मतलब यह नहीं कि मैं दिल से कोई बुरी बात सोचता ही नहीं. यह अवश्य है कि निरंतर सोचने की आदत के कारण, बुरा भाव आते ही मुझे चेतावनी मिल जाती है और मैं सहम जाता हूं.

पर मैं कहा-से-कहां पहुंच गया! बातें तो विद्यार्थी संगठन की हो रही थीं. इस बारे में सोचने का मोह मैं नहीं छोड़ सकता. मैंने अभी तक जितने विद्यार्थी संगठन देखे हैं, उनमें से एक भी राजनीति से अलग-थलग न था. लेकिन अब तक मैं इतना

सोचने योग्य हो गया था कि मैं किसी का भी सदस्य न बना. लाहौर में मेरे साथी विद्यार्थियों का मेरे खादी के कपड़ों के कारण मेरी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था. उन्होंने मुझे विद्यार्थी कांग्रेस का सदस्य बनने को कहा. मैंने चिढ़ कर 'ना' कह दिया. यद्यपि मैं व्यक्तिगत रूप से आज राजनीति में फंस गया हूं, पर मैं इस बात को महसूस करता हूं कि विद्यार्थियों का आंदोलन राजनीतिक आधार पर नहीं चल सकता.

विद्यार्थी संगठन के उद्देश्य के बारे में मैंने अपने विचार 'गढ़वाली विद्यार्थी कांफ्रेंस' के सामने लिख कर भेजे थे. मेरी सभी बातें मान भी ली गईं. अमल होगा, इसका मुझे संदेह था. विद्यार्थी-जीवन के विकास में हमारी शिक्षा-प्रणाली कुछ खास नहीं करती है. स्कूल और कॉलेज ऐसे जेलखाने हैं, जहां पर उस्ताद किसी चौकीदार की तरह जबरदस्ती हमारे दिमाग में कुछ ठूंस कर चला जाता है. फेल होने के डर से हमें सब कुछ हजम करना पड़ता है. ऐसे में कोई वास्तविक विकास कैसे संभव है?

विद्यार्थी इन चौकीदारों के डंडे के नीचे ही मिलते हैं. उसके बाहर उनका मिलना संभव नहीं. जरूरत इस बात की है कि वे आजाद वातावरण में मिलें-जुलें, बहस करें, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करें. कार्डिनल न्यूमैन तो यहां तक लिख गया है कि सारी शिक्षा इसी प्रकार से होनी चाहिए. आपस में बहस से दृष्टिकोण विस्तृत होता जाता है, हमारे अंदर का जिद्दीपन और उजड्डपन पिघलने लगता है. शिक्षा का उद्देश्य सहिष्णु स्वभाव वाले नागरिक पैदा करना भी है.

हिंदुस्तान जैसे अभागे देश में, जहां गुलामी की बदौलत कई बीमारियां पैदा हो गई हैं, समाजसेवकों की भारी आवश्यकता है. समाजसेवक हमारे विद्यार्थी ही हो सकते हैं. नवयुवक का मस्तिष्क द्वेष रहित होता है. एकता का पाठ पढ़ाने में वह अधिक सफल हो सकता है. हमारी जिम्मेदारी तो और भी अधिक है. हमें अपने अनुकूल समाज की स्थापना में अभी से जुड़ जाना है. विद्यार्थियों का राजनीतिक जुआरियों ने अपनी पार्टी के लिए जैसा इस्तेमाल किया है, उससे मुझे दुख है. उन्हें सच-झूठ की परख के लिए आजाद छोड़ देना चाहिए. वे सत्य की हिमायत करना सीखेंगे, तब ही उनका भविष्य उज्जवल हो सकता है. जनता के साथ काम करने की ट्रेनिंग का उन्हें अवसर मिलना चाहिए. मैं हर एक विद्यार्थी को एक बहादुर सिपाही की तरह छाती तान कर अपने सिद्धांतों के लिए डटा देखना पसंद करूंगा. मुझमें एक तरह का लजीलापन रह ही गया. मेरी यह कमजोरी गुलाम देश के गुलाम कॉलेज की अनोखी देन है.

● मसूरी, 11 अगस्त, 47

(● 'बागी टिहरी', समय साक्ष्य प्रकाशन, 15 फालतू लाइन, देहरादून-2480001(उत्तराखंड); मूल्यः 175 रुपये, पृष्ठः 131, से साभार)

विदा

हिमालय का सेवक

पिछले 5 दशकों से हिमालय, वहां के पर्यावरण और समाज के बीच शांत साधक की तरह कार्यरत, जन्मना अंग्रेज डेविड भाई यानी डेविड जेरार्ड हॉपकिंस ने 9 मार्च 2026 की सुबह लगभग 4 बजे, 78 वर्ष की आयु में दुनिया को अलविदा कह दिया.

गांधीजी के शिक्षा संबंधी आदर्शों और सरला बहन के कार्यों से प्रेरित होकर वे पहली बार 1972 में उत्तराखंड के कौसानी स्थित लक्ष्मी आश्रम आए. धीरे-धीरे उनका मन यहां रमता गया. 1981 में उन्होंने कौसानी को अपना लिया. उन्हें भारत की नागरिकता भी प्राप्त हो गई. वे भारत में ही रच-बस गए. उन्होंने लक्ष्मी आश्रम की समर्पित कार्यकर्ता हंसी बहन से विवाह कर लिया. राधा बहन के साथ मिलकर उन्होंने आश्रम के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाईः प्रतिदिन आश्रम पहुंचना, छात्राओं को पढ़ाना, खादी भंडारों के संचालन में हाथ बटाना और शाम की प्रार्थना में भाग लेना. भूगोल और पर्यावरण के विद्यार्थी के रूप में उन्होंने हिमालय-क्षेत्र को गहराई से समझा. उनके पास यहां की वर्षा, हिमपात और तापमान का विस्तृत डेटाबैंक था जिसे अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है. कहें तो हिमालय ने अपना साधक, सेवक और शांत प्रहरी खो दिया. डेविड भाई **गांधी-मार्ग** के सजग-स्नेही पाठक थे.

विनोबा के प्रहरी :

बाल भाई को मैंने हमेशा विनोबा के पीछे बैठ कर कुछ लिखते, उनसे कुछ कहते, उनकी बातों को पी जाने की एकाग्रता से सुनते ही देखा था. मैंने उनको बोलते या किसी दूसरे से बतियाते नहीं देखा था. हैरान भी होता था मैं मन-ही-मन कि यह आदमी ऐसा क्यों है? लोगों ने बताया कि वे विनोबा के सचिव हैं, और सचिव ऐसे ही होते हैं.

अब बाल भाई नहीं हैं; अब मेरे भीतर हैरानी का ऐसा कोई भाव भी नहीं है. अब मैं जानता हूं कि बाल भाई जैसे लोग ऐसे ही हो सकते हैं. जब तक विनोबा थे, वे विनोबा के प्रहरी थे; विनोबा नहीं रहे तबसे वे विनोबा के विचारों के प्रहरी बन गए; लेकिन वैसा प्रहरी जो विचारों को सहेजता ही नहीं है, उन्हें उन्नत भी बनाता चलता है. विनोबा के जाने के बाद बाल भाई नई आभा व

प्रखरता के साथ उस दुनिया में लौटे जिसे विनोबा बदलना चाहते थे. आचार्यकुल, खादी से ले कर देश में फैली राजनीतिक जड़ता व उसकी उलझनों आदि सबको उन्होंने देखा-समझा व उसमें अपनी भूमिका भी निर्धारित की. मैंने देखा कि वे प्रभावी वक्ता भी थे, सधी अभिव्यक्ति वाले लेखक भी थे. उनमें लोगों की कई विसंगतियों को संभालते हुए चलने का गुण था.

विनोबा के निर्वाण के बाद वे पवनार आश्रम से बाहर आए और देश भर में सक्रियता से काम करने लगे. फिर शरीर क्षीण हुआ तो वापस विनोबा के आश्रम में लौट और 100 वर्ष की उम्र पूरी कर विदा मांग ली.

शांति के सिपाही :

रनसिंह परमार एकदम अचानक गए. न जाने का यह वक्त ही था, न उम्र ही ऐसी थी. उत्साह, निश्चय से भरे रनसिंह भाई सुब्बारावजी के शांति के परखे हुए सिपाही थे. उनके जौरा आश्रम के साथ गहरे भाव से जुड़े रनसिंह भाई जनांदोलनों के दक्ष संगठक व व्यवस्थापक थे. एकता परिषद तथा भूमि अधिकार जनांदोलन के प्रणेता राजगोपालजी की गतिविधियों के स्तंभ थे वे. युवाओं से दोस्ती का रिश्ता सहज ही बना लेने वाले रनसिंह भाई गंभीर अध्येता भी थे. 72 वर्ष की उम्र में दिल का दौरा पड़ने से उनकी असामयिक मौत ने इस संगठनों और ऐसी गतिविधियों को गहरी चोट पहुंचाई है.

जा न पाऊंगी कभी... :

आशा भोंसले नहीं रहीं. 12 अप्रैल 2026. इतनी सहज-सरल और अहंकारहीन कलाकार - फिल्मी दुनिया में 80 वर्षों का सक्रिय जीवन, 20 भाषाओं में अतुलनीय गायन, 12,000 से ज्यादा गीत! आशा भोंसले नहीं रहीं, तो मधुर गायन का सिलसिला भी थम गया. 'गुलजार' ने एक कविता लिखी थी : ''मेरा कुछ सामान तुम्हारे पास पड़ा है.'' संगीतकार आशा भोंसले के पति राहुल देव बर्मन ने पढ़ा तो कहा : भाई, अब यह तो गाना नहीं बन सकता! आशा भोंसले ने कुछ इस भाव से गुलजार साहब की वह कविता उठा ली कि जो गाया न जा सके ऐसा कुछ लिखा कैसे जा सकता है! आशा भोंसले ने इस कविता को ऐसे गाया मानो गीत ही लिखा गया था. मैंने सावन को अपने गांव में महसूस किया है : भीगे-भीगे दिन, ठंडी-कच्ची हवा, दूर-दूर तक हरी होती धरती. फिर 'गुलजार' का लिखा और आशा भोंसले का गाया सुना : सावन के कुछ भींगे दिन रखे हैं / और मेरे एक खत में लिपटी रात पड़ी है / वो रात बुझा दो, मेरा वो सामान लौटा दो—तो एक मुसाफिर की यादों का सिलसिला खुल जाता है... एक अकेली छतरी में जब आधे- आधे भींग रहे थे / आधे सूखे, आधे गीले/ सूखा तो मैं ले आयी थी/ गीला

मन शायद बिस्तर के पास पड़ा हो / वो भिजवा दो, मेरा वो सामान लौटा दो—कोई क्या लौटाए, कैसे लौटाए! लौटना संभव नहीं है... बीते दिनों की मधुरिमा हृदय को लपेटती है... सैकड़ों गानों का उल्लेख किया जा सकता है जिसे आशा भोंसले ने गा कर जीवन दे दिया... 'हम दोनों' का वह गाना— 'अभी न जाओ छोड़कर कि दिल अभी भरा नहीं' — साहिर का गीत, रफी-आशा का स्वर, देवानंद-साधना की जोड़ी — प्रेम की तरलता और उसकी अविरल धारा मध्यम-मध्यम बहती जाती है हृदय को भिंगोती हुई... आज तक वह तरलता और वह बहाव न सूखा है, रूठा है कला की अमरता इसे ही कहते हैं शायद... मुझे लगता था कि इस कलाकार के सम्मान में भारत का राष्ट्रीय ध्वज कम-से-कम एक दिन के लिए तो झुका ही दिया जाएगा. लेकिन जिस दौर में ज्ञान चुप-चुप हो और अज्ञानता सिर चढ़ कर बोल रही हो, वहां निखालिस कलाकार की महत्ता को कौन समझे? लेकिन वक्त तो समझता है. आशा भोंसले अपने स्वर के लिए अमर और कालजयी रहेंगी.

● **डॉ. योगेंद्र**

*

हृदय में क्रोध व लोभ रखना
अस्पृश्यता का पक्का नमूना है.

● **महात्मा गांधी**

टिप्पणियां

गूंगा देश!

अमरीका और इस्राइल द्वारा किए गए हमलों में ईरान के सर्वोच्च नेता अयातुल्लाह सैय्यद अली हुसैनी खामेनेई की हत्या कर दी गई. जारी वार्ताओं के बीच एक पक्ष के सर्वोच्च नेता की हत्या अंतरराष्ट्रीय संबंधों में गंभीर दरार का संकेत है. इस घटना की स्तब्धता के बीच जो बात हैरान करती है वह है नई दिल्ली की चुप्पी. भारत सरकार ने अब तक न तो इस हत्या की निंदा की है और न ही ईरानी संप्रभुता के उल्लंघन पर आपत्ति दर्ज की है. प्रारंभ में अमरीकी–इस्राइली हमले की अनदेखी करते हुए प्रधानमंत्री ने केवल ईरान द्वारा संयुक्त अरब अमीरात पर की गई जवाबी कार्रवाई की निंदा तक स्वयं को सीमित रखा और बाकी घटनाक्रम पर मौन साधे रखा.

किसी देश के सर्वोच्च नेता की हत्या पर यदि हमारा देश संप्रभुता या अंतराष्ट्रीय कानून के पक्ष में स्पष्ट आवाज नहीं उठाता है, निष्पक्षता से हटता हुआ दिखता है, तो यह हमारी विदेश नीति और विश्वसनीयता पर गंभीर प्रश्न खड़े करता है.

ऐसी चुप्पी तटस्थता नहीं मानी जा सकती. संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुच्छेद 2(4) किसी भी राज्य की क्षेत्रीय अखंडता या राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध बल प्रयोग या उसकी धमकी को निषिद्ध करता है. किसी पदासीन सर्वोच्च नेता की हत्या इन सिद्धांतों के मूल पर प्रहार करती है. यदि ऐसे कृत्य विश्व के हमारे सबसे बड़े लोकतंत्र की ओर से मौन गुजर जाते हैं, तो अंतरराष्ट्रीय मापदंडों का अर्थहीन हो जाना आसान हो जाता है.

हत्या के मात्र 48 घंटे पहले प्रधानमंत्री से लौटे थे. उन्होंने बेंजामिन नेतन्याहू की सरकार के प्रति अपना स्पष्ट समर्थन दोहराया था. गजा में बड़ी संख्या में बच्चों-महिलाओं नागरिकों के मारे जाने को लेकर वैश्विक आक्रोश के बीच ऐसे समर्थन का क्या मतलब?

दक्षिण विश्व के कई देश, 'ब्रिक्स' में भारत के साझेदार रूस और चीन सभी इस्राइल से दूरी बनाए हुए हैं. ऐसे में भारत का राजनीतिक समर्थन नैतिक विचलन प्रतीत होता है. इसकी प्रतिध्वनि महाद्वीपों में सुनाई दे रही है.

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ईरानी जनता तथा विश्वभर के शिया समुदायों के प्रति संवेदना व्यक्त की है. हमने कहा है कि भारत की विदेश नीति विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के सिद्धांत पर आधारित है. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 51 ऐसा ही कहता है. संप्रभुता,

समानता, हस्तक्षेप और शांति जैसे सिद्धांत ऐतिहासिक रूप से भारत की कूटनीतिक पहचान के अभिन्न अंग रहे हैं. सरकार का रवैया हमारे घोषित मूल्यों से असंगत प्रतीत होता है.

भारत के लिए यह विशेष रूप से चिंताजनक है. ईरान के साथ हमारे संबंध सभ्यतागत होने के साथ-साथ रणनीतिक भी रहे हैं. 1994 में, जब इस्लामिक सहयोग संगठन के कुछ तत्त्वों ने संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग में कश्मीर को लेकर भारत के विरुद्ध प्रस्ताव लाने का प्रस्ताव किया था, तब तेहरान ने उसे विफल करने में अग्रिम भूमिका निभाई थी. उस हस्तक्षेप ने कश्मीर मुद्दे के अंतरराष्ट्रीयकरण को भी रोका. ईरान ने जाहेदान में, पाकिस्तान सीमा के निकट, भारत की कूटनीतिक उपस्थिति को भी सक्षम बनाया, जो ग्वादर बंदरगाह और चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारे के विकास के प्रति एक रणनीतिक संतुलन का काम करता है.

वर्तमान सरकार को याद रखना चाहिए कि अप्रैल 2001 में तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने तेहरान की अधिकाधिक यात्रा के दौरान ईरान के साथ भारत के गहरे, सभ्यतागत और समकालीन संबंधों की गर्मजोशी से पुष्टि की थी. दीर्घकालीन संबंधों की उनकी वह स्वीकृति और सराहना आज की सरकार के लिए अप्रासंगिक प्रतीत होती है.

हाल के वर्षों में इसराइल के साथ भारत के संबंध रक्षा, कृषि और प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में बढ़े हैं. भारत तेहरान और तेल अवीव दोनों से संबंध रखता है. यह सच्चाई ही उसे शक्ति देती है कि वह दोनों पक्षों को संयम बरतने में समक्ष है. यदि आपकी विश्वसनीयता एक के दायरे में है तब आपकी सलाह का कोई अर्थ नहीं बनता है. विश्वसनीयता सिद्धांत आधारित आचरण से आती है, तात्कालीन सुविधा के लालच से नहीं.

यह केवल नैतिक आग्रह नहीं, हमारी रणनीतिक आवश्यकता भी है. लगभग एक करोड़ भारतीय खाड़ी क्षेत्रों में निवास और कार्य करते हैं. अतीत के संकटों के बीच भारत की क्षमता उसकी स्वतंत्र पहचान पर आधारित रही है, किसी शक्ति-गुट के प्रतिनिधि के रूप में नहीं यह विश्वसनीयता संयोग से हासिल नहीं हुई थी. स्वतंत्रता के बाद भारत की विदेश नीति गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत पर आधारित थी, निष्क्रिय तटस्थता के रूप में नहीं बल्कि रणनीतिक स्वायत्तता के सचेत आग्रह के रूप में. यह महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा का हिस्सा बनने से इंकार था. क्या यह रुख अब कमजोर पड़ गया है? शक्तिशाली देश द्वारा एकतरफा सैन्य कार्यवाही पर मौन उस सिद्धांत से हमारे पीछे हटने जैसा प्रतीत होता है और हमारी विरासत

से विमुखता का संकेत देता है.

यह केवल इतिहास का प्रश्न नहीं, बल्कि भारत की वर्तमान आकांक्षाओं से जुड़ा हुआ है. जो देश स्वयं को वैश्विक दक्षिण की आवाज के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, उसके लिए मौन नुकसानदायक होगा.

भारत हमेशा नियम आधारित अंतराष्ट्रीय व्यवस्था की वकालत करता रहा है. लेकिन अब परीक्षा अपनी क्षेत्रीय अखंडता की रक्षा के लिए भारत पर क्यों विश्वास करेंगे?

इस असंगति के समाधान का उपयुक्त मंच हमारी संसद है. जब वह बैठेगी तब अंतराष्ट्रीय व्यवस्था के इस संकट पर और भारत की चुप्पी पर खुली बहस होनी चाहिए. ये भारत के रणनीतिक हितों और नैतिक प्रतिबद्धताओं से जुड़े प्रश्न हैं. भारत की स्थिति की स्पष्ट अभिव्यक्ति अब अनिवार्य है. लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व भी और रणनीतिक परिस्थितियां भी इसकी मांग करती हैं.

भारत लंबे समय से 'वसुधैव कुटुंबकम' के आदर्श का आह्वान करता रहा है. यह सभ्यतागत केवल औपचारिक कूटनीति का नारा नहीं, यह न्याय, संयम और संवाद के प्रति हमारी प्रतिबद्धता का संकेत है, भले ही वह कभी-कभी असुविधाजनक क्यों न हो. जब संकट वैश्विक हो, तब मौन सिद्धांतों को तिलांजलि देने के समान है. भारत ने एक क्षेत्रीय शक्ति से बड़ी भूमिका निभाता रहा है. यह संप्रभुता, शांति, अहिंसा और न्याय के पक्ष में बोलने वाली आवाज रही है, चाहे परिस्थितियां कितनी भी कठिन क्यों न हों. जरूरत है कि हम उस नैतिक शक्ति का फिर स्मरण करें और उसे स्पष्टता तथा दृढ़ता के साथ व्यक्त करें?

● सोनिया गांधी
कांग्रेस संसदीय दल की अध्यक्ष
और राज्यसभा सदस्य

नाजायज जंग

28 फरवरी 2026 को अमरीका और इस्राइल ने ईरान पर खतरनाक युद्ध थोप दिया है. यह 'ताकत ही हक है' जैसी जंगली मानसिकता का प्रदर्शन है, ईरान की राष्ट्रीय संप्रभुता और आजादी पर क्रूर हमला है. संसाधनों के लोभ और आधिपत्य की भूख की कोई सीमा नहीं है.

अमरीका और इस्राइल अपनी आने वाली पीढ़ियों की किन्हीं मनगढ़ंत खतरों से बचाने का दावा कर रहे हैं, लेकिन उन्होंने अपने लोगों की संवेदना का दम घोंटकर उन्हें पहले ही मुर्दा बना दिया है. संवेदना के बिना जीवन कोई जीवन नहीं है; और न्यूनतम संवेदना यह है कि सभी इंसानी जिंदगी एक है. उसके अमरीका या ईरानी, फलस्तीनी या यहूदी, हिंदू या मुसलमान होने से कोई फर्क नहीं पड़ता है.

यह युद्ध 1953 की खौफनाक

वापसी है, जब अमरीका खुफिया एजेंसी ने ईरान में तख्तापलट किया था और प्रधानमंत्री मोसद्द की चुनी सरकार को उखाड़ कर, कठपुतली मोहम्मद रजा पहलवी को ईरान का शाह बनाया था और तेल पर कब्जा कर लिया था. इसी के साथ शुरू हुआ था विकासशील देशों पर नव-साम्राज्यवादी तबाही का दौर. ग्वाटेमाला, कांगो, ब्राजील, चिली, इंडोनेशिया से वियतनाम और कंबोडिया तक. युद्ध व तख्तापलट का दौर चला. अमरीका की मौजूदा वेनेजुएला के राष्ट्रपति का अपहरण और सत्ता व तेल पर कब्जा तथा ईरान पर हमला विकासशील देशों की संप्रभुता और आजादी के लिए गंभीर खतरा है. तेल वाले देश पहले से उनकी गिरफ्त में हैं. अब उनका दम और घोंटा जाएगा. भारत समेत हर देश पर हमले का खतरा बढ़ गया है. अंतराष्ट्रीय व्यवस्थाएं और संस्थाएं टूट रही हैं.

सत्य और अहिंसा की ताकत किसी भी दमनकारी शक्ति से ज़्यादा ताकतवर है लेकिन अभी वह प्रमाणित नहीं है. इसलिए जरूरी है कि हम जंग का महिमामंडन बंद करें, युद्ध और कब्जे का बड़े पैमाने पर विरोध और असहयोग करें. वैज्ञानिक, प्रोफेसर, इंजीनियर आदि ने बड़ी ताकतों की इंडस्ट्रियल और मिलिट्री ताकत बढ़ाने में मदद की है. अब वे आवाज उठाएं और इंसानियत के बुनियादी उसूलों को जिंदा करें. सोचें कि आपके काम, आपके बनाए हथियार और मशीनें दूसरों को बर्बाद करने के काम आ रही है, तो ऐसे कामों से सभी तौब करें, उनसे बचें, उनके गलत इस्तेमाल को ''ना'' कहें.

जुल्म का निशाना बनाए गए देशों और लोगों का दर्द हम महसूस करें. हमलावर मुल्कों को 'ना' कहें और जंग के षड्यंत्र के बारे में आवाज उठाएं—खास कर युवाओं की आवाज! हम अपनी सरकार को कहें कि हमारी 'ना' को अमरीका और इस्राइल की सरकारों तक पहुंचाए. कई प्रदर्शन हो भी रहे हैं. हम प्रधानमंत्री, सांसदों और विधायकों को खत लिख सकते हैं.

● **विपिन कुमार त्रिपाठी**

रोशनी की खोज

नेटफ्लिक्स पर इन दिनों चल रही वेब सीरीज 'द नाइट एजेंट' के तीसरे सीजन में सीधे अमरीकी राष्ट्रपति और उनकी पत्नी संदेह और आरोपों से घिरे हैं. पता चलता है कि उन्होंने अपने चुनाव-प्रचार के लिए ऐसे संदिग्ध लोगों से पैसे लिए हैं, जिनका वास्ता आतंकियों से भी है. अमरीका के मनोरंजन उद्योग में इन दिनो ऐसी और भी फिल्में या वेब सीरीज हैं, जिनमें सर्वोच्च नेता, अफसर या खुफिया अधिकारी अपने ही देश से गद्दारी करते नजर आते हैं.

दुनिया के सबसे कामयाब लोकतंत्र के भीतर यह क्या चल रहा है? जाहिर है, आम अमरीकियों में

लोकतांत्रिक नेतृत्व को लेकर मोहभंग है. ट्रंप के दौर में इस व्यवस्था में श्वेत नस्लवाद, सैन्य वर्चस्ववाद, कुंठित मर्दवाद का जो नया त्रिकोण विकसित होता दिख रहा है, उस पर फिल्में बननी शायद अभी बाकी हैं.

ईरान पर अमरीकी हमले के बीच एप्स्टीन फाइलों से खुल रहा सिहरा देने वाला सच बताता है कि हम सभ्यता के कितने भयावह पाखंड के बीच रह रहे हैं. दुनिया के ताकतवर लोग, राजनीतिक, आर्थिक व बौद्धिक मानक बनाने वाले भी. इस काली-घिनौनी सूची में शामिल है. कोई उनका बाल बांका तक नहीं कर पा रहा है. उल्टे वे अपने कुकृत्यों के साथ ईरान पर हमले की आड़ में छिपने की कोशिश कर रहे हैं. ये ताकतवर लोग एक-दूसरे के मित्र बने हुए हैं, एक-दूसरे की कार्रवाइयों को समर्थन दे रहे हैं और चुपचाप इस व्यवस्था को मजबूत कर रहे हैं, जो उनके किले को और अभेद्य बना सके.

क्या यह आधुनिक लोकतंत्र की विफलता है? क्या यह उस विराट पूंजीवाद की विकृति है जो किसी समांतर व्यवस्था के अभाव में अपनी अपरिहार्यता का गुमान करता सारे पाप कर रहा है? क्या यह उस नई उपभोक्तावादी प्रवृत्ति का प्रतिफलन है जिसमें सब कुछ उपभोग, मनोरंजन, निजी तुष्टि और तृप्ति के लिए है? यह सच है कि ये सारी व्यवस्थाएं अंततः दुनिया की तथाकथित विकास को चमकीली पन्नियों में लपेट कर युद्ध और विध्वंस के मुहाने पर ही ले जा रही हैं. इसके भीतर भयावह विषमता है. अपने देश में जितने अरबपति बढ़ रहे हैं, उतने ही गरीब भी बढ़ते जा रहे हैं.

क्या हम इससे निजात पा सकते हैं? क्या हम इससे निजात पाना चाहते भी हैं? अपने देश में देखें तो एक तरफ विकास की लुभावनी छवियां हैं—चमचमाते बाजार, फ्लाई ओवर तरह-तरह की कारें; दूसरी तरफ कट्टरता कठमुल्लापन, घृणा-पोषित सांप्रदायिकता! मंदिर-मस्जिद, मजार, बाबा, साधु-संत-महंत और मठों की जरखेज फसल है. इनके बीच एक खाता-पीता उपभोक्ता वर्ग है, जिसे हर तरह की मलाई अपने लिए चाहिए.

इसमें आशा की किरण कहां खोजें? बेशक वह कहीं होगी जरूर. इतनी पुरानी सभ्यता और संस्कृति के रंध्रों में इतनी रोशनी होगी ही कि वह कोई रास्ता दिखा सके. क्या यह गांधी का रास्ता है? क्या यह संयम और पश्चाताप से बन सकता है? मगर क्या हम उस संयम और पश्चाताप के कहीं आसपास भी हैं? इस चुप्पी में भी धीरे-धीरे कोई प्रतिरोध शामिल होना चाहिए. डॉ. लोहिया यों ही नहीं कहते थे कि निराशा के भी कर्तव्य होते हैं!

● **प्रियदर्शन**

*

पत्र

वर्तमान के गांधी-संस्थानों में गांधी शांति प्रतिष्ठान की आवाज सबसे मुखर व प्रभावी है. यह हम सब नये गांधीजनों के लिए एक 'थिंकटैंक' ही बन गया है. आपका हर लेख हमें उद्वेलित करता है, रास्ता भी बताता है. हमने जोधपुर में **गांधी-मार्ग रीडर्स क्लब** बनाया है जिसके माध्यम से हमने जोधपुर स्थित आईआईटी, **निफ्रट** जैसे संस्थानों के साथ-साथ, यहां के विश्वविद्यालयों तक अपनी पहुंच बनाई है. सर्वधर्म प्रार्थना, एकादश व्रत, रचनात्मक कार्यक्रम, हिंद-स्वराज्य, पूर्णाहुति आदि के माध्यम से गांधी से नया परिचय संभव हो पा रहा है. मैं देखता हूं कि राष्ट्रीय संस्थानों में गांधीजी के प्रति एक नई दिलचस्पी व अलग किस्म का वैज्ञानिक दृष्टिकोण बन रहा है.

● **अशोक चौधरी**
जोधपुर (राजस्थान)

गांधी-मार्ग का नया अंक (जनवरी-फरवरी 2026) देख रहा हूं और विस्मित हो रहा हूं कि आपने कितनी बेशकीमती सामग्री इसमें संजो रखी है. **गांधी-मार्ग** में आप जिस तरह विषयों का चयन करते हैं और फिर उन्हें सामयिक संदर्भ देते हैं, उससे पुरानी चीजें भी एकदम नया रूप ले लेती हैं. मुझे नहीं पता है कि **गांधी-मार्ग** की ग्राहक-संख्या कितनी है. इसे लाखों में होना ही चाहिए ताकि हम करोड़ों को जोड़ सकें.

● **संकल्प उपाध्याय**
गाजीपुर (उत्तरप्रदेश)

मैं 1952 से पटना में रह रहा हूं. लेकिन इस बार जैसी रामनवमी मैंने यहां देखी वैसी रामनवमी कभी नहीं देखी थी. 60 के दशक में जब मैं रांची में पढ़ता था, तब पहली बार हथियारों से लैस रामनवमी का विशाल जुलूस देखा था. उस समय भी यह परंपरा मुख्यतः झारखंड के इलाकों तक सीमित थी, और तब प्रशासन विशेष सतर्कता बरतता था.

रामनवमी सदा से ही सादगी व श्रद्धा का पर्व रहा है. गांवों में झंडे बदले जाते थे, घरों में पूजा होती थी, खीर-पूड़ी बनती थी. सब कुछ शांतिपूर्वक संपन्न होता था. इस बार जो देखा वह बेहद चिंताजनक है.

इस बार की रामनवमी में भक्ति कम, शक्ति का उन्माद अधिक दिखाई दिया. तलवारें लहराई जा रही थीं, मोटरसाइकिलों का हुजूम था. हर तरफ एक आक्रामक वातावरण दिखाई देता था. इस उन्मत्त भीड़ में महिलाओं-

युवतियों की अच्छी-खासी भागीदारी थी. पूरा आयोजन धर्म के नाम पर सामाजिक विद्वेष पैदा करने का अभियान बन रहा था.

प्रश्न यह है कि इस बदलाव की जिम्मेदारी किसकी है? क्या यह केवल सामान्य सामाजिक परिवर्तन है या समाज को एक खास मानसिकता में ढालने का कोई छिपा अभियान चल रहा है? ऐसे में सरकार का क्या दायित्व है? वह रीढ़विहीन हो तो क्या कर सकेगी?

सबकी धर्मिक आस्थाओं का सम्मान होना चाहिए, लेकिन धर्म के नाम पर शक्ति-प्रदर्शन और विद्वेष का वातावरण बनाना समाज और देश के प्रति अपराध है. आज बिहार की राजनीति में इस चुनौती का मुकाबला करने की बात तो दूर, इसे समझने की क्षमता भी नहीं दिखाई दे रही है.

● **शिवानंद, पटना (बिहार)**

प्रपत्र-ख

स्वामित्व संबंधी तथा अन्य वक्तव्य

1. प्रकाशन का स्थान	: नई दिल्ली-110002
2. प्रकाशन अवधि	: द्वैमासिक
3. प्रकाशक का नाम	: अशोक कुमार
4. राष्ट्रीयता	: भारतीय
5. पता	: द्वारा रामानंद प्रसाद, 234, अभिनव अपार्टमेंट, बी-12, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096
6. संपादक का नाम	: कुमार प्रशांत
7. राष्ट्रीयता	: भारतीय
8. पता	: 221/223, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002
9. मुद्रक	: नीता प्रेस, 3574, गली जटवारा, नीयर सबलोक क्लीनिक, दरियागंज, दिल्ली-11002
उन व्यक्तियों के नाम और पते	: गांधी शांति प्रतिष्ठान, 221/223, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

मैं अशोक कुमार इस वक्तव्य के द्वारा घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण जहां तक मेरी जानकारी और विश्वास है, सत्य है.

हस्ताक्षर
अशोक कुमार
प्रकाशक

न कभी गांधी पुराने होते हैं,
न कभी गांधी-मार्ग पुराना होता है!



पुराने पड़ जाने से बचिए-
गांधी-मार्ग नियमित पढ़िए!

आज ही गांधी-मार्ग के नियमित पाठक बनिए

'गांधी-मार्ग' की शुल्क तालिका

वार्षिक शुल्क भारत में एक वर्ष के लिए **200** रुपये

दो वर्ष के लिए **350** रुपये

आजीवन **1000** रुपये (व्यक्तिगत),

आजीवन **2000** रुपये (संस्थागत)।

गांधी शांति प्रतिष्ठान के नाम चेक भेजें अथवा ऑनलाइन भुगतान करें।

ऑनलाईन भुगतान का विवरण
गांधी पीस फाउंडेशन
बैंक का नाम : केनरा बैंक, डी.डी.यू. मार्ग, नई दिल्ली-2
खाता न. : **0158101030392**
आई.एफ.एस.सी. कोडः **CNRB0000158**

रजिस्टर्ड नं.–4545/57



काकोरी कांड के अमर शहीद
रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खां, रोशन सिंह

- गुलाम भारत में फांसी : 19 दिसंबर 1927
- आजाद भारत में फांसी : 23 मार्च 2026

(उत्तरप्रदेश के शाहजहांपुर के प्रशासन के सौजन्स से)